महादेवी की रहस्य-साधना

विश्वम्भर 'मानव'

किताब महल
इलाहाबाद

सांको

पाठकों से

जिन दिनों मैंने महादेवी जी पर लिखना प्रारंभ किया, उन दिनों रहस्य-वाद का विरोध चल रहा था। महादेवी जी के संबंध में तो यह प्रचारित कर दिया गया था कि उनकी कविता समझ में नहीं आती। आगे चलकर समीक्षकों ने उनके काव्य को जीवन से असंबद्ध और पलायनवादी बतलाया और अब इधर उनके संबंध में चर्चा ही बंद हो गई है। इस प्रकार महादेवी जी ने अपने जीवन में तीन युग देखे हैं—छायावाद युग, प्रगतिवाद युग, प्रयोगवाद युग। इन तीनों ही युग के समीक्षकों ने उनके प्रति न्याय नहीं किया।

महादेवी के समसामयिक लेखकों ने इस बात को स्वीकार किया है कि वे बड़ी प्रतिभाशालिनी हैं। लेकिन इस प्रतिभा का प्रस्फुटन उनके काव्य में किस रूप में हुआ है, इसके उद्घाटन की ओर किसी ने प्रयत्न नहीं किया। युग विवश होकर उनके महत्त्व को तो स्वीकार करता है; पर उस महत्त्व का आधार क्या है, इस संबंध में प्रायः चुप है। इसके विपरीत उनके काव्य को लेकर जैसी भ्रांतियों का प्रचार हुआ है, वैसा प्रचार हिन्दी-साहित्य के इतिहास में शायद ही कभी किसी लेखक और उसके कृतित्व के संबंध में हुआ हो। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि महादेवी जी उन लेखकों में से रही हैं जिन्हें अपने जीवन में ठीक से नहीं समझा जाता।

काव्य के लिए यह संकट का काल है। लेखकों और समीक्षकों के अपने दल बन गए हैं और उनके समाप्त होने की कोई संभावना दिखाई नहीं देती। जो कुछ लिखा जा रहा है वह एक विशेष आशय से। झूठे मूल्यों (Values) का प्रचार बढ़ रहा है और नए कवि अपने काव्य की व्याख्या प्रस्तुत करने के बहाने स्वयं अपनी प्रशंसा करने में संकोच का अनुभव नहीं करते।

यह मानते हुए भी कि समय किसी के साथ अन्याय नहीं करता, यह देखा गया है कि विचारों का अपना प्रभाव होता है। हम जो किसी के

अपनी धारणा बनाते हैं, उसमें अप्रत्यक्ष रूप से इस बात का भी हाथ रहता है कि उसके संबंध में दस आदमी क्या कहते हैं। पाठकों के पास कथन की परीक्षा के लिए समय नहीं रहता। उनकी अपनी प्रतिक्रिया भी होती है, पर वे समालोचक के मत से प्रभावित होने के लिए भी तैयार रहते हैं। ऐसी दशा में भ्रांत आलोचना कुछ न कुछ हानि कर ही जाती हैं। यह संसार ऐसा स्थल है जहाँ असत्य को ही नहीं, सत्य को भी प्रमाणित करना पड़ता है।

महादेवी जी के संबंध में अनेक प्रकार की विचारधाराएँ प्रचलित हैं। उनसे थोड़ा मतभेद होता तो इस समीक्षा-ग्रंथ को लिखने की आवश्यकता न पड़ती; पर उनके काव्य के अध्ययन से मेरे ऊपर जो प्रतिक्रिया हुई, वह बिल्कुल भिन्न प्रकार की है और जैसे-जैसे मैंने उनके काव्य का मनन किया, वैसे ही वैसे इस प्रतिक्रिया के प्रति मैं आश्वस्त होता गया। उसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

(१) महादेवी जी का काव्य आध्यात्मिक है।

(२) उनका कवि-कर्म जीवन से पलायन का नहीं, उसके चरम लक्ष्य की सुन्दरतम अभिव्यक्ति का परिचायक है।

(३) अपने काव्य में उन्होंने उस ऊँचाई को छुआ है जिसे संसार के महानतम कवि छूते आए हैं।

ये बातें हिन्दी के समीक्षकों को नहीं, उसके रसज्ञ पाठकों को लक्ष्य करके कही जा रही हैं। लेखकों के महत्व के अंतिम निर्णायक पाठक ही होते हैं। इस निर्णय का ही दूसरा नाम समय का निर्णय है।

—मानव

क्रम

—:०:—

संध्या की छाया में

महिला-विद्यापीठ की समीपता जब प्राप्त हुई तब एकाकिनी संध्या प्रतीची के पट पर विविध वर्णों को उदासीनता से उड़ेल नयनों की समस्त उत्सुकता से यह जाँच रही थी कि केवल रंगों के बखेरने से भी कोई चित्र उठ सकता है अथवा नहीं ? बसेरे की ओर अबाध गति से खिंचे जाने वाले खग तभी एक अपरिचित भाषा में मुखरित होकर न जाने क्या उत्तर दे गए ! कवि के बाहरी निवास-द्वार पर खड़े होकर भीतर दृष्टि दौड़ाई तो वहाँ के पौधों और लताओं ने स्वागत की स्निग्ध चितवन से उसे शीतल किया। उन्हें चीरती हुई एक रमणी-मूर्ति निकट आई जिसने हमारे आगमन की सूचना महादेवी जी को दी। मेरे साथ मेरे एक स्नेही कवि थे। ड्राइंग-रूम में हम दो मिनट ही बैठ पाए होंगे कि निकट द्वार से एक उजली स्वस्थ-शान्त काया श्वेत परिधान में हमारी ओर बढ़ती दिखाई दी। शीत के कारण एक 'शॉल' कंधों को ढक रहा था। दृष्टि उठाते ही प्रतीत हुआ जैसे सात्विकता ही साकार हो गई हो।

भगवान् अमिताभ की मूर्ति और उनके तप के चित्र के साथ 'सोफ़ा' और कुर्सियों को स्थान देकर कवयित्री ने अपने बाह्य जीवन में मानों प्राचीन और नवीन, पूर्व और पश्चिम, ललित कला और उपयोगिता में सामंजस्य स्थापित कर लिया हो। बैठते ही उन्होंने एकदम परिचित-स्वर में बोलना प्रारम्भ किया—एकदम सहज भाव से। इससे बड़ा सुख मिला। उनकी रचनाओं को पढ़कर मेरी ऐसी धारणा हो गई थी कि वे अत्यन्त गम्भीर-स्वभाव की अल्प-भाषिणी महिला होंगी। सम्पर्क में आते ही ये दोनों बातें निर्मूल सिद्ध हुईं। महादेवी जी हँसती बहुत हैं। निरंतर हँसती रहती हैं। बातें भी मन भरकर देर तक करती हैं। अब तक मुझे यह निश्चय करना दूभर हो रहा है कि वे हँसती अधिक हैं अथवा बातें अधिक करती हैं। उनके ओठों पर यह अजस्र हँसी किस उद्गम से फूटती है, यह केवल वे ही जान सकती हैं।

'दीपशिखा' के चित्रों को मूल में देखने की हमारी इच्छा जान उन्होंने उन्हें लाने का अनुग्रह किया। पुस्तक की अपेक्षा मूल के चित्र कहीं अधिक सुन्दर हैं। पुस्तक के चित्रों में न पृष्ठ-भूमि की वह सुन्दरता है, न वर्णों की यथाविधि अनुरूपता और स्पष्टता। रेखाएँ भी कहीं-कहीं ठीक से नहीं उभरी हैं। काव्य, संगीत और चित्र की ऐसी अपूर्व त्रिवेणी इस कलाकार के जीवन में बही हैं कि प्रयाग आज दुहरे पर्व का अधिकारी हो गया है। तीन-तीन ललित कलाओं के ज्ञान और प्रयोग के उदाहरण विश्व के साहित्य में विरल ही हैं। इन चित्रों में से मैंने दीप-शिखा के उस चित्र को पृथक् कर लिया जिसमें दो हाथ काँटों से बँधे हैं। यह चित्र मुझे बहुत प्रिय है—अपनी व्यंजना की अतिशयता के कारण। ध्यान से देखियेगा कि बाँए हाथ की हथेली पर महादेवी जी ने रेखाएँ इस कौशल से खींची हैं कि उनसे मिलकर 'म' बन गया है।

आलोचक शब्द एक प्रकार से बड़ा अनाकर्षक सा है—जैसे वह किसी प्रकार के स्वागत का अधिकारी ही न हो। अतः जितनी देर में बैठा एक प्रकार से मौन ही रहा। महादेवी जी कवि-सम्मेलनों, प्रगतिवाद, कलाकार की स्वच्छन्द प्रवृत्ति, चित्रकला तथा अपने दैनिक जीवन पर प्रासङ्गिक बातें करती रहीं। बातें वे अत्यन्त सरल, स्पष्ट आकर्षक ढंग से करती हैं और उनके पास जाने वाले व्यक्ति को यह सोचने की एकदम आवश्यकता नहीं है कि यदि वह उनके पास जाय तब किस विषय पर बातें करे। व्यक्ति को पहचानकर इस स्थिति को वे स्वयं ही सँभाल लेती हैं। अपनी बात-चीत का विषय उन्हें एकदम स्पष्ट रहता है, उसे प्रारंभ करनेवाली चाहे वे हों और चाहे कोई दूसरा। पर यदि वे मौन भी रहें तब भी उनके सरल सात्विक आनन से प्रतिभा की झलक फूटती दिखाई दे ही जाती है। उनका व्यक्तित्व कुछ इस प्रकार का है कि उन्हें कहीं भी बिठा दिया जाय, कोई समझदार प्राणी उनकी उपेक्षा करके नहीं जा सकता। अत्यन्त गम्भीर विचारक होने पर भी वे एकदम अकृत्रिम ढंग से मिलतीं और व्यवहार करती हैं। इससे उनके व्यक्तित्व के प्रति एक प्रकार की प्रगाढ़ आदर-भावना जागरित होती है।

कवि के जीवन को निकट से जानना आलोचक के लिये सदैव सम्भव नहीं होता। जिस कवि की प्रतिभा से आकृष्ट होकर वह अपनी लेखनी उठाता है वह उसके बहुत पहिले, कभी-कभी शताब्दियों पूर्व अपनी लोकयात्रा समाप्त कर चुका होता है। कभी-कभी आलोचक कवि के युग में रहते हुए भी उसके व्यक्तित्व के विश्लेषण की ओर चेष्टावान नहीं होता, यदि कवि की कृतियों में उस समय तक इतनी प्रौढ़ता नही आई है जितनी एक आलोचक की दृष्टि को आकृष्ट करने के लिये यथेष्ट हो। आज महादेवी जी को जानने के लिये इन दोनों व्याघातों में से एक भी नहीं है। यद्यपि अभी जीवन के उस मध्यान्ह का आरम्भ ही हुआ है, जो अपने में भविष्य की अनेक भव्य सम्भावनाओं को छिपाये है; पर इतने ही अल्पकाल में अपनी विस्मयकारिणी प्रतिभा के बल पर उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में एक चमत्कार उत्पन्न कर दिया है।

महादेवी जी का जीवन व्यस्त है और उनके क्षण अमूल्य। तारों का दूकूल ओढ़कर जब यामिनी उनके द्वार से झाँकती दिखाई दी, तब मैं उठ पड़ा। बाहर सचेत प्रहरी-से वृक्ष नत-शिर खड़े थे। माघ की कृष्णा नवमी धीरे-धीरे घिरती आती थी। विदा करते समय कवयित्री ने कहा 'बाहर चारों ओर अँधेरा है, सँभलकर चलियेगा।' मैंने सुना और अनुभव किया जैसे ये शब्द अनायास ही उस स्थिति के, उनके व्यक्तित्व के और उनके सन्देश के परिचायक हों! अपने निवास-स्थान के सात्विक वातावरण की कोमल शिला पर अधिष्ठित प्रकृति-संगिनी से सेवित यह भावमयी तपस्या क्या यही शाश्वत गूँज छोड़ने तो यहाँ नहीं आई—'बाहर चारों ओर अँधेरा है, सँभलकर चलियेगा!' उसकी दृष्टि ने 'नीहार' को पारकर 'रश्मि' के दर्शन किए हैं, उसकी प्राण—'नीरजा' ने 'सान्ध्य-गीत' गाए हैं, और उसके उदार करों ने अन्धकार को चीरने के लिए 'दीपशिखा' प्रज्ज्वलित की है। अपने काँटों से भरे पथ के सजल अनुभव के एक-एक अक्षर से वह यह अक्षर-सन्देश हमारे कानों, हमारे प्राणों में निरन्तर भर रही है—'बाहर चारों ओर अँधेरा है, सँभलकर चलियेगा!'

प्रयाग के दूसरे कोने में मेरे आतिथेय के उद्यान तक वाणी की यह गूँज मेरा अनुसरण करती हुई आई है और सिन्धु में सरिता-धारा के समान सदैव को चुप से मेरे कानों में समा गई है। इस अंधकार में दूर बैठा हुआ भी मैं देख रहा हूँ कि मेरे चले आने पर महादेवी उठकर अपने साधना कक्ष में लौट गई हैं। वह हँसी धीरे-धीरे संध्या की अन्तिम किरणों-सी जिस भू-खण्ड पर बिखरी थी उससे सहसा सिमिटकर एक गम्भीरता के गह्वर में प्रवेश कर गई है। वास्तविक महादेवी यही हैं—कवयित्री महादेवी।

मैंने उन्हें एक घण्टे भर बातें करते सुना। कानों को लगता था जैसे वे किसी रम्य प्रकृति-खण्ड में व्याप्त संध्या के कुहकमय प्रशान्त कोने में किसी गम्भीर गिरि-शिखर के अन्तर से फूटनेवाले उज्ज्वल झरने का कलनाद सुन रहे हों। उस अन्तर में विचार की धारा अटूट भी पाई, निर्मल भी और नवीन भी। बीच-बीच में जब वे अधिक घने अर्थों से गुम्फित किसी वाक्य को सहज-भाव से कह जाती थीं, तब मैं आँख उठाकर उनके मुख को देखने लगता था—उसी प्रकार जैसे समगति से बहनेवाला झरना एक रेले के साथ गुहा से खिंचनेवाले जल की तीव्र उमड़ से उद्गम पर उत्पन्न अतिरिक्त ध्वनि की विद्युत्-द्वारा कानों को विशेष रूप से चौंकाकर पलकों को वरवश उठा जाता हो। पर उधर देखते ही मुझे ध्यान आता था 'यामा' की महादेवी का, 'दीप-शिखा' की महादेवी का, 'अतीत के चलचित्र' की महादेवी का। सोचता था क्या ये वे ही महादेवी हैं जो अपनी आत्मा की लौ को प्रज्ज्वलित किये प्रतीक्षा की पलकें बिछाए बैठी हैं—उस महामहिम की मुसकान की एक उजली धुली किरण की प्रत्याशा में? क्या ये वे ही महादेवी हैं जिनके द्वार से दीनता कभी निराश नहीं लौटी? उनका, उन महादेवी का मुख तो बड़ा सजल है, आँसुओं से भरा—भीगा। फिर इतनी हँसी ये कहाँ से उधार ले आईं? तब क्या मैं महादेवी को नहीं देख पाया? यदि देखा है तो फिर यह हँस कौन रहा है?

कौन जाने! कौन जाने!

हिंदी कविता की परंपरा

हिंदी कविता का यदि प्रवृत्तिगत विवेचन करें तो पता चलेगा कि जीवन की कोई प्रमुख भावना उसमें अछूती नहीं रही। इन प्रवृत्तियों का इतिहास प्रस्तुत करना हमारा उद्देश्य नहीं है, वरन् एक विशेष प्रसंग में हम इनकी चर्चा मात्र कर रहे हैं; इसी से यहाँ केवल प्रमुख धाराओं और महत्त्वपूर्ण कवियों का उल्लेख हो हम कर सकेंगे। ऐतिहासिक क्रम पर भी यहाँ हमारा विशेष आग्रह नहीं है; अतः घटनाओं और कवियों का वर्णन कुछ आगे पीछे होना भी संभव है।

मनुष्य की आंतरिक प्रवृत्ति सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने की है। इसके लिए पहली आवश्यकता यह है कि वह और उसकी भूमि स्वतंत्रता की निर्विघ्न साँस ले सकें। जहाँ किसी व्यक्ति, समाज अथवा देश को आत्म-निर्णय की स्वाधीनता नहीं होती, वहाँ वह अपना विकास नहीं कर सकता। व्यक्ति के अविकसित रहने से समाज, समाज के अविकसित रहने से देश और देश के अविकसित रहने से समस्त संसार का अकल्याण होता है। हिन्दी साहित्य के एक हज़ार वर्ष के इतिहास में कई बार ऐसा समय आया है जब हिन्दी के कुछ कवियों ने अन्याय का विरोध करने वाले वीरों की प्रशस्तियाँ लिखी हैं और जनता के हृदय में मातृभूमि के प्रति अनुराग जगाया है। आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिककाल तीनों में ऐसे कवि पाए जाते हैं। परिस्थितियों की भिन्नता के कारण काव्य का रूप स्वभावतः कुछ परिवर्तित होता गया है। ऐसे कवियों में हम चंदवरदाई, भूषण, मैथिलीशरणगुप्त, निराला और सुभद्राकुमारी चौहान आदि के नाम ले सकते हैं। वीरगाथाकाल में वीर काव्य की रचना और भी अनेक कारणों से हुई; पर जब कभी ऐसा अवसर आया है, तब हमारे कवियों ने जीवन में ओज और उत्साह जगाया है। निश्चित रूप से यह शक्ति का साहित्य है।

दूसरी प्रवृत्ति अध्यात्म की है जिसके अंतर्गत भक्ति, रहस्यवाद और नवचेतनावाद आते हैं।

ईश्वर के अनेक रूप हैं। वह कभी ब्रह्मा, विष्णु, महेश के रूप में प्रकट होता है, कभी राम और कृष्ण के रूप में। अतः देवताओं और अवतारों की उपासना भक्ति के अंतर्गत आती है। विद्यापति शिव के उपासक थे, तुलसी राम के, सूर कृष्ण के। भक्ति के भी अनेक रूप होते हैं। कहीं भगवान की उपासना स्वामी-भाव से होती है, कहीं सखा-भाव से और कहीं दाम्पत्य-भाव से। तुलसी का सेवक-सेव्य भाव, सूर का सख्य-भाव और मीरा का दाम्पत्य (मधुर) भाव प्रसिद्ध ही है। आधुनिक युग में मैथिलीशरणगुप्त को भी राम के अनन्य उपासकों में स्वीकार करना चाहिए।

रहस्यवाद में निर्गुण ब्रह्म के प्रति प्रेम-भाव प्रदर्शित किया जाता है। प्राचीन काल में कबीर दादू आदि संत, जायसी कुतबन आदि सूफ़ी रहस्यवादी कवि हो गए हैं। इस युग में प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी की गणना रहस्यवादी कवियों में होती है।

नवचेतनावाद का प्रचलन अरविंद-दर्शन के प्रभाव के कारण हिंदी में हुआ। इसमें ऐसा विश्वास किया जाता है कि मनुष्य की चेतना अपने विकसित रूप में नहीं पायी जाती; पर यदि मनुष्य अपनी चेतना का परिष्कार कर सके तो वह उस परम चेतन से अपना संबंध स्थापित कर सकता है और पृथ्वी पर ही आध्यात्मिक आनंद की सहज भाव से उसे उपलब्धि हो सकती है। श्री अरविंद का विश्वास था कि यह बात सामाजिक धरातल पर सामूहिक रूप से संभव है। आध्यात्मिक सुख संतों का ही विशेषाधिकार नहीं है, वह सभी को प्राप्त हो सकता है। हिंदी में इस प्रवृत्ति के प्रचारक अभी एकमात्र पं० सुमित्रानंदन पंत ही हैं। पर यह प्रवृत्ति भी अपने मूल रूप में आध्यात्मिक है; अतः इसकी यहाँ चर्चा की गई। अध्यात्म के क्षेत्र में यह नवीनतम प्रवृत्ति है और इसमें संसार से दूर जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। एक प्रकार से आध्यात्मिकता और भौतिकता का ऐसा सुन्दर समन्वय अन्यत्र पाना कठिन है। फिर भी लौकिकता और अलौकिकता को एक साथ सँभालना इतना

सरल कार्य नहीं हैं जितना बतलाया जाता है। जिन महामानवों (Superman) का स्वप्न श्री अरविंद ने देखा था और जिनकी कल्पना श्री सुमित्रानंदन पंत अपने काव्य में कर रहे हैं, उनका आविर्भाव हमारी धरित्री पर कब होगा, कहा नहीं जा सकता।

आध्यत्मिकता के साथ लौकिक सुख का आकर्षण भी हमारे कवियों के मन में कम नहीं रहा है। वीरगाथा-काल में राजकुमारियों के सौंदर्य के प्रति ललक लौकिक ही है, रीतिकाल में परकीयाओं के प्रति प्रेम भी इसी कोटि में आता है और आधुनिक काल में व्यक्तिगत प्रेम की सीधी अभिव्यक्ति भी भौतिक सुख की प्रेरणा से ही उत्पन्न हुई। जीवन को प्यार करने वाले कवियों में बिहारी और देव, प्रसाद और निराला, दिनकर और भगवतीचरण वर्मा, बच्चन और नरेन्द्र एवं अज्ञेय और नागार्जुन सभी का नाम लिया जा सकता है। फिर भी यह स्वीकार करना चाहिए कि सांसारिक जीवन के सौंदर्य और माधुर्य की सहज और सीधी अभिव्यक्ति अतीत के काव्य में बहुत कम हुई है। पता नहीं यह इस देश की आदर्शवादिता है, अध्यात्म-प्रेम है या जीवन के प्रति असंतुलित दृष्टिकोण का परिणाम कि रात-दिन के जीवन का जो हँसता-खेलता रूप है उसके सौंदर्य का उद्‌घाटन ठीक से कोई नहीं कर पाया। प्राचीन काल में प्रणय-भावना का विकास अधिकतर राधा-कृष्ण के प्रेम की ओट में ही हुआ है। आधुनिक काल में भी प्रेमास्पद का स्वरूप बहुत स्पष्ट नहीं रहा। यही सब देखकर 'बच्चन' जी की प्रशंसा इस बात के लिए बार-बार करने को मन करता है कि उन्होंने अपने प्रेम-भाव को बड़ी ईमानदारी से अपने काव्य में स्वीकार किया। एक प्रकार से लौकिकता की ओर बढ़ने वाली हमारे युग की हिंदी कविता उन्हीं के काव्य से एक नया मोड़ लेती है। इस दृष्टि से, आधुनिक काव्य में 'बच्चन' का स्थान काफ़ी महत्वपूर्ण रहेगा।

मनुष्य का जन्म प्रकृति के बीच हुआ है; अतः वह किसी भी दशा में उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। उसके सम्पर्क और दर्शन से विभिन्न प्रकार के प्रभाव प्राणी के हृदय पर पड़ते हैं। हिंदी काव्य की एक बहुत बड़ी निधि वह है जहाँ प्रकृति के उपादानों को नारी के सौंदर्य-वर्णन के लिए ग्रहण किया

गया। कवियों के सौंदर्य-बोध, रम्य कल्पना-शक्ति और प्रतिभा की बहुत कुछ परीक्षा इस कसौटी पर हो सकती है। इस दृष्टि से हिन्दी कवियों का कोई तुलनात्मक अध्ययन करने बैठे तो चर्चा का एक मनोवैज्ञानिक और मनोरंजक विषय उपस्थित हो सकता है। सूर, विद्यापति, देव और हरिऔध ने राधा; तुलसी और मैथिलीशरण गुप्त ने सीता; जायसी ने पद्मावती और नागमती; बिहारी ने नागरी और ग्रामवधूटी; एवं प्रसाद, पंत और बच्चन आदि ने अपनी प्रेमिकाओं के रूप-वर्णन में प्रकृति से जिस सामग्री का चयन किया है वह विमुग्ध करने वाली है। रूप-वर्णन में जहाँ भाव का विषय कोई अवतार या देवता है, वहाँ भी मन पर पड़े प्रभाव को अंकित करने के लिए दृष्टि अधिकतर प्रकृति की ओर ही उठी है। तुलसी के राम, सूर, मीरा और रसखान के कृष्ण, कबीर के साहिब और महादेवी के चिर सुंदर के लिए भी रूप-वर्णन की पद्धति प्रकृति पर आधारित आलंकारिक ढंग की ही है। प्रकृति का दूसरा उपयोग वहाँ हुआ जहाँ कवियों ने उसे अपने और अपने पात्रों के मनोभावों में रँगकर देखा। मनुष्य दुःखी है तो प्रकृति भी दुःखी है, मनुष्य सुखी है तो प्रकृति भी सुखी है अर्थात मनुष्य से भिन्न उसकी कोई सत्ता नहीं। सूर और जायसी, मैथिलीशरण और उपाध्याय एवं पंत और नरेन्द्र शर्मा में यह बात काफी मात्रा में पायी जाती है। हिन्दी के प्रायः सभी कवियों ने उसे उद्दीपनकारी रूप में भी स्वीकार किया है। यह बात नरपति नाल्ह के आल्हा खंड से लेकर रीतिकाल के घनानन्द, रसखान आदि को पार करती हुई आज तक चली आ रही है। इस दिशा में वर्षा, चाँदनी रात और नदी आदि का उल्लेख असंख्य बार हुआ है। प्राचीन काल के कवियों की एक प्रवृत्ति यह भी थी कि प्रकृति का उपयोग वे उपदेश देने के लिए करते थे। यह प्रवृत्ति तुलसी और कबीर दोनों में पाई जाती है। गिरिधर की कुंडलियों एवं रहीम और वृन्द के दोहों में भी यह प्रवृत्ति झलकती है। आलम्बन के रूप में प्रचीन काल में प्रकृति को बहुत कम ग्रहण किया गया। अकेले सेनापति ऐसे कवि हैं जिनकी गणना प्रकृति के सच्चे प्रेमियों में होनी चाहिए। आधुनिक काल में यही प्रवृत्ति और भी परिष्कृत रूप में सुमित्रानन्दन पंत और

गुरुभक्तसिंह में पाई गई। गुरूभक्तसिंह का हृदय प्रकृति के सौंदर्य में बहुत गहरा डूबा हुआ है। उन्होंने प्रकृति के बहुत-से उपेक्षित अंगों पर बड़ी मुग्धता और तन्मयता से दृष्टि डाली है। और पंत जी तो आज तक के सभी युगों के कवियों में प्रकृति के सबसे बड़े प्रेमी हैं। सूफियों ने प्रकृति का एक नया ही उपयोग किया। मनुष्य के समान वहाँ प्रकृति भी ईश्वर के प्रेम में डूबी हुई दिखाई देती है। यह प्रवृत्ति महादेवी के काव्य में ज्यों की त्यों पाई जाती है। प्रकृति के ये वर्णन उसके रम्य, कोमल, सुन्दर, भव्य और मनोहारी रूप को लेकर हुए। उसके भयंकर स्वरूप का वर्णन अपने प्रभावशाली रूप में शेष रह गया था। उसकी पूर्ति जयशंकर प्रसाद ने कामायनी के प्रलय-वर्णन द्वारा की।

हिन्दी-काव्य प्रबन्ध और मुक्तक दोनों रूपों में पाया जाता है। मुक्तक के विषय फुटकर रहते हैं जैसे प्रेम, सौंदर्य, प्रकृति, भक्ति, नीति। मुक्तक के लिए प्रेरणा या व्यक्ति की रुचि ही पर्याप्त है; पर प्रबन्ध-काव्य के लिए प्रतिभा और परिश्रम की भी। इसी से किसी भाषा के साहित्य में प्रबन्ध-काव्य कम ही पाये जाते हैं—महाकाव्य तो बहुत ही कम। किसी आलोचक ने हिन्दी में गीतों की बाढ़ और प्रबन्ध की कमी की शिकायत कहीं की है। लेकिन किसी युग में एक श्रेष्ठ महाकाव्य का लिखा जाना भी उस भाषा के लिए कम सौभाग्य की बात नहीं है। हिन्दी तो अपने महाकाव्यकारों पर गर्व कर सकती है। जिस भाषा में पृथ्वीराजरासो, पद्मावत, रामचरितमानस, रामचन्द्रिका, प्रिय-प्रवास, साकेत, जयभारत, कृष्णायन और कामायनी जैसे महाकाव्य हों, उसकी स्थिति हीन-भाव का नहीं, ईर्ष्या का विषय है। अन्य प्रबन्ध-काव्यों में भी नूरजहाँ, कुरुक्षेत्र और सिद्धराज का स्तर बहुत ऊँचा है। हल्दीघाटी और जौहर आदि भी बड़े प्रभावशाली बन पड़े हैं। खण्ड-काव्यों में मिलन, पथिक, स्वप्न, पंचवटी, जयद्रथ-वध, नहुष, आँसू, तुलसीदास, ग्रंथि आदि इसी गौरव-शालिनी परम्परा में आते हैं। प्रबन्ध काव्य में जीवन की विविधता को जैसा समेटा जा सकता है, उतना मुक्तक में नहीं। कथा का आधार मिलने से प्रबन्ध का प्रभाव अधिक व्यवस्थित रूप में पड़ता है और वह स्थायी भी अधिक होता

है। कोई सांस्कृतिक संदेश भी जैसा प्रबन्ध-काव्य द्वारा दिया जा सकता है, वैसा मुक्तक द्वारा नहीं। यों एक विषय पर बहुत-से गीत, पद, कवित्त-सवैये, दोहे-सोरठे, कुंडलियाँ और बरवै लिखे जा सकते हैं; पर लाख जोड़ने पर भी उनकी कड़ियाँ टूटी और विशृंखलित रह सकती हैं। उदाहरण के लिए इस युग में पं० सुमित्रानंदन पंत एक स्वप्नदर्शी कवि हैं। बहुत दिनों से भावना के क्षेत्र से उतरकर वे चिंतन के क्षेत्र में विचरण कर रहे हैं। हमारा ऐसा विश्वास है कि 'स्वर्ण-किरण' से लेकर 'अतिमा' तक अपने पाँच-छह काव्य-ग्रंथों में उन्होंने जो कहना चाहा है, वह यदि किसी प्रबन्ध-काव्य के रूप में कह दिया जाता तो उनका स्वप्न चरितार्थ हो जाता और उनके पाठकों को भी जो उनसे शिकायतें रहती हैं, वे न रहतीं। यह सब कुछ होने पर भी मुक्तक रचनाकारों का अपना अलग महत्त्व है, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भी काव्य यदि जीवन को प्रतिबिंबित करता है तो उसका विराट स्पष्ट और सूक्ष्म बिंब बड़े मानस में ही उठ सकता है।

सन् १९३५ के आसपास हमारे देश में साम्यवाद का प्रभाव काव्य पर पड़ने लगा था। यह काव्य प्रगतिवादी काव्य कहलाया। इसी के आधार पर आगे के युग का नाम पड़ा प्रगतिवाद-युग। प्रारंभ में प्रगतिवादियों ने सुधार संबंधी सभी प्रकार की रचनाओं को प्रगतिवाद के अंतर्गत लिया; पर बाद में उनमें कट्टरता आ गई और केवल उन कवियों की गणना वे प्रगतिवादियों में करने लगे जो साम्यवाद के आदर्शों के अनुकूल ही काव्य का सृजन करते थे। ऐसे कवियों में नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, डा० रामविलास शर्मा, शिवमंगलसिंह 'सुमन' और नेमिचंद जैन आदि को बड़ी ख्याति मिली। ये सभी कवि स्वभाव से विद्रोही हैं। अपने काव्य में इन्होंने शोषकों की निंदा और शोषितों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की है। इनमें से सभी अनीश्वरवादी हैं और धर्म को महत्ता नहीं प्रदान करते। इनका काव्य कोरी काल्पनिकता से दूर धरती के अधिक निकट है और मनुष्य को उसके सहज एवं सच्चे रूप में चित्रित करता है। हताश-भावना को मिटानेवाला यह काव्य सचमुच स्वस्थ जन-काव्य है। संवेदनशीलता की इस काव्य में कमी नहीं है, पर विचार-

प्रधान होने के कारण यह कुछ बौद्धिक हो गया है। व्यंग्य भी इस काव्य में बहुत पाया जाता है। यों इस काव्य की अनेक सीमाएँ भी हैं। प्रगतिवादी काव्य में शुष्कता, नारेबाज़ी और अश्लीलता भी किसी-न-किसी मात्रा में विद्यमान है। जो काव्य आज प्रगतिवादी काव्य के नाम से प्रसिद्ध है, उसमें बहुत कुछ ऐसा भी है जो मात्र तुकबंदी से ऊपर नहीं उठ पाया।

प्रगतिवाद-युग में ही आज प्रगतिवादी-काव्य के स्वर कुछ दब-से गये हैं और एक नए प्रकार का काव्य उभर आया है जिसे प्रयोगवादी काव्य कहते हैं। प्रयोगवादी काव्य का प्रारम्भ तार-सप्तक के प्रकाशन (१९४३) से समझना चाहिए। जैसे प्रगतिवाद को मार्क्सवादी दर्शन से प्रेरणा मिली, वैसे ही प्रयोगवाद को फ्रायड के सिद्धांतों से। यही कारण है कि जहाँ तक इस काव्य की वस्तु का संबंध है वहाँ वह व्यक्ति की चेतना के सूक्ष्म और गहन पटलों को धीरे-धीरे प्रस्फुटित करके उन्हें पाठकों के सामने प्रस्तुत करती है। प्राणी के अंतर्मन की उलझी भावनाओं पर आधारित होने के कारण यह काव्य प्रायः दुरूह और जटिल हो गया है। प्रयोगवादी कवियों में जिन्हें प्रमुखता मिली उनके नाम हैं:—अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, भवानीप्रसाद मिश्र और धर्मवीर भारती। प्रयोगवादी कवियों की प्रसिद्धि कला के क्षेत्र में नूतन प्रयोगों के कारण अधिक है। ये प्रयोग सचेष्ट भाव से किए जाते हैं। इन कवियों ने मुक्त छंद को विशेष रूप से अपनाया है। उर्दू और अँगरेजी के बहुत से छंदों को भी इन्होंने ग्रहण किया है। गज़ल, रुबाइयात, सॉनेट और ओड अब हिंदी में लिखे जाने लगे हैं। अलंकारों के क्षेत्र में अपरिचित और विलक्षण उपमान जुटाने में इन कवियों में होड़-सी लगी हुई है। जैसे प्रगतिवादी काव्य छायावादी काव्य के विरोध में खड़ा हुआ, वैसे ही प्रयोगवादी काव्य प्रगतिवादी काव्य के विरोध में। कुछ कवियों को छोड़कर इस काव्य का स्तर अभी अधिक ऊँचा नहीं उठ सका है।

पिछले वर्षों में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के साथ ही गीति-काव्य का भी नए रूप में विकास हुआ है जिसे हम नया गीति-काव्य कहते हैं। उत्तर-छायावाद-काल के तीनों कवि—बच्चन, नरेन्द्र शर्मा और अंचल सफल गीतिकार

रहे हैं। नए गीतिकारों ने तो भाव और कला दोनों के क्षेत्रों में और भी कई प्रकार की नूतनता का समावेश किया है। युग की छाप तो इन पर यह पड़ी कि काव्य को रहस्य के कुहासे और कल्पना की अतिशयता से मुक्त कर इन्होंने भी धरती के सुख को पहचाना और सभी के साथ जीवन के सौंदर्य और माधुर्य के गीत गाए। विषय इनके चिर-परिचित ही हैं जैसे—प्रेम, प्रकृति, किसान, श्रमिक, नारी, समाज-सुधार, सुख-दुःख, जन्म-भूमि, विश्व-बंधुत्व और ईश्वर आदि; पर सभी के प्रति दृष्टिकोण जैसे बदल गया है। इस दृष्टिकोण को लौकिक और यथार्थवादी कह सकते हैं। प्रगतिवादियों से यह दृष्टिकोण इस अर्थ में भिन्न है कि जहाँ वे लोग समस्याओं का समाधान साम्यवादी विचारधारा के भीतर से खोजते हैं, वहाँ से अंतःकरण से प्रसूत मानवता की उदार-भावना से प्रेरित होकर। इनकी रचनाओं के सम्पर्क में आकर पाठक का मन प्रगतिवादी और प्रयोगवादी रचनाओं की अपेक्षा अधिक तन्मयता और रस का अनुभव करता है। संक्षेप में आज का प्रगतिवादी मार्क्सवादी, प्रयोगवादी फ़ायडवादी और नया-गीतिकार मानवतावादी है। नए गीतिकारों में विद्यावती कोकिल, सुमित्राकुमारी सिनहा, शंभूनाथसिंह, शांति मेहरोत्रा, गिरिधर गोपाल और रमानाथ अवस्थी के काव्य में गहरी मार्मिकता के दर्शन होते हैं।

प्रश्न यह है कि इस काव्य-परम्परा में महादेवी जी का स्थान कहाँ है? कितना ही बड़ा कवि हो, वह पूरी परंपरा को कभी नहीं समेट सकता। महाकाव्यकार के लिए यह शायद संभव हो, पर गीतिकार के लिए तो यह कठिन ही पड़ेगा। सभ्यता के विकास के साथ काव्य की प्राचीन परंपरा के सार और अपने युग की समस्त जटिलता को आत्मसात करना और भी दुरूह होता जा रहा है। तुलसीदास के लिए जो संभव था, वह आज के महाकाव्यकार के लिए संभव है या नहीं, यह बात उस समय तक नहीं कही जा सकती, जब तक इसका कोई प्रमाण उपलब्ध न हो। आज के कवि के लिए इतना ही पर्याप्त है कि वह अपने युग के व्यापक जीवन को अपने ढंग से चित्रित करके इस युग की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सके। आज का जीवन सचमुच

बहुत जटिल हो गया है। महादेवी जी का क्षेत्र है अध्यात्म का, वृत्ति है अलौकिक प्रेम की; अतः वे चंद और भूषण, सूर और तुलसी, बिहारी और देव एवं दिनकर और बच्चन की परंपरा में न आकर कबीर और जायसी की पंक्ति में आती हैं। उन्होंने बहुत कम लिखा है; पर उतना ही उन्हें अमर करने के लिए पर्याप्त है। जीवन का उद्देश्य यदि आंतरिक शांति है तो महादेवी जी ने जीवन का ठीक पथ पहचान लिया है और उच्चस्तरीय पावन प्रेम का यदि कोई मूल्य है तो उनका काव्य अत्यधिक मूल्यवान है।

संस्कार

आत्मा और परमात्मा के बीच चलने वाले प्रेम-सम्बन्ध को रहस्यवाद कहते हैं। रहस्य-भावना से अनुप्राणित आत्मा अनुराग और विराग के दो-कूलों के बीच बहनेवाली निर्मल जल की वह सरिता है जो महासिंधु रूपी ब्रह्म में समाकर उससे एकाकार होने जा रही है। राग और विराग की तीव्रतम अनुभूति के बिना रहस्यवाद चल ही नहीं सकता। किसी भी दिशा में अनुराग की सफलता के लिये उससे विपरीत दिशा में उतने ही गहरे विराग की अपेक्षा होती है। ज्यों-ज्यों अन्तर में निवसित मूर्ति के लिए स्नेह तीव्र होता जाता है त्यों-ही-त्यों मन चारों ओर से सिमटकर नेह-निधि को आच्छादित कर लेता है। यदि अन्य वस्तुओं के प्रति आकर्षण का प्रदर्शन होता भी है तो स्नेहपात्र के सम्बन्ध से ही। सामान्य प्रेम में कोई स्थान बार-बार स्मृति में इसलिए आता है कि वहाँ किसी के साथ बैठकर कुछ सुखद क्षण व्यतीत हुए थे। कोई वस्तु प्राणपण से सहेजकर इसलिए रखी जाती है कि वह किसी का दिया हुआ उपहार है। मैंने किसी कहानी में पढ़ा था कि स्वदेशी आन्दोलन से प्रभावित एक सम्भ्रान्त कुल की महिला अपने समस्त विदेशी कपड़ों को जला डालती है। मूल्यवान से मूल्यवान रेशमी साड़ी वे आग की प्रचण्ड लपटों को सौंप रही हैं। इतने में एक रूमाल पर उनकी दृष्टि जाती है। मूल्य की दृष्टि से वह रूमाल उन साड़ियों के सामने कुछ नहीं है, पर सब की दृष्टि बचाकर, सिद्धान्त की हत्या करके भी वे किसी कारण से उसे छिपाने का प्रयत्न करती हैं। इस प्रकार प्रेम में वस्तुओं का मूल्यांकन शुद्ध वस्तु की दृष्टि से नहीं, भाव-दृष्टि से ही होता है। यह बात सभी प्रकार के प्रेम के लिए सत्य है। भक्ति के क्षेत्र में भी उपास्यों की स्मृतियाँ जिन स्थानों, वस्तुओं और व्यक्तियों के चारों ओर भाँवरें डाले रहती हैं उनके प्रति भक्तों के हृदय में एक विलक्षण प्रकार की ममता रहती है। रहस्यवादी भी सामान्यतः सृष्टि की उपेक्षा नहीं करता, क्योंकि उसमें उसे अपने प्रियतम की झलक दिखाई देती है; पर

प्रेम का नाता अलौकिक से होने के कारण किसी लौकिक बन्धन में न बँधना ही उसके लिए श्रेयस्कर सिद्ध होता है। अध्यात्म का क्षेत्र ही ऐसा है कि संसार के घरौंदे के साथ उसकी निरन्तर निभती नहीं। मीरा घर छोड़कर चली गईं। कबीर विवाहित थे—'नारी तो हमहू करी'—पर उन्होंने भी 'जब जानी तब परिहरी।' यह दाम्पत्य-जीवन लौकिक लगाव का सबसे सीमित साथ ही सबसे प्रबल आकर्षक रूप है। इनसे हल्के रूप में मित्र हैं, सहानुभूति का आदान-प्रदान करनेवाले हैं, परिचित हैं, अपरिचित हैं। होता यह है कि कभी तो आध्यात्मिक-चेतना के सजग होने पर घर और बाहर का वैराग्य जाग्रत होता है, जैसे कबीर के जीवन में; और कभी घर और बाहर से निराश होने पर आध्यात्मिक स्फुलिंग दहक उठता है जैसे सूर और तुलसी के जीवन में। कोई कवि अध्यात्म की ओर झुका, यह जानकर ही हमारी बुद्धि तुष्ट नहीं होती; वह उस ओर क्यों झुका यह जानने की अपेक्षा भी हमारी उत्सुकता रखती है। और इसीलिए कवि का हृदय हमें टटोलना पड़ता है।

कुछ व्यक्तियों में वैराग्य जन्मजात होता है, जैसे शङ्कराचार्य में। महादेवी जी के बचपन की मानसिक-स्थिति का यदि हमें कुछ परिचय मिलता है, तो उनके 'अतीत के चलचित्र' से। वैराग्य की भावना तो उनमें दृढ़ नहीं थी, पर विस्मय की भावना जो आगे चलकर उन्हें रहस्यवादिनी बनाने में सहायक हुई, उनके स्वभाव में बद्धमूल थी। अपनी मा से, जिस संसार से उस समय घिरी दिखाई देती है उससे और स्वयँ अपने से अनेक कुतूहल-भरे प्रश्न करती हुई यह बालिका बड़ी हुई। उसका मृत प्राणियों को तारों में देखना इसी प्रकार का एक उदाहरण है।

आगे प्रयाग में शिक्षा का काल है। वह समय रवीन्द्र की ख्याति और अपने यहाँ नवीन धारा में योग देनेवाले प्रसाद, निराला और पंत की कविता का था। रहस्यवाद का चलन हो चुका था। बहुत सम्भव है ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से इस वृत्ति ने इन्हें आकृष्ट किया हो और इस स्रोत में योग देने के लिए इनका मन उमड़ पड़ा हो। पर यह काल मैथिलीशरण और उपाध्याय की कविता का भी था; और फिर रवीन्द्र, प्रसाद, पन्त और निराला

केवल रहस्यवादी ही नहीं थे, प्रेम और प्रकृति के कवि भी थे। राष्ट्रप्रेम के लिए पथ खुला हुआ था ही। पूछा जा सकता है कि महादेवी रहस्यवाद की ओर ही क्यों मुड़ीं, प्रकृति, देश अथवा प्रणय-भावना की ओर क्यों नहीं झुकीं।

मुझे ऐसा लगता है कि इसी बीच उन्हें कुछ सांसारिक कटु अनुभव हुए। व्यक्तिगत जीवन का प्रश्न इतना सुकोमल (Delicate) है कि उस पर बहुत ही सँभलकर बोलना चाहिए, फिर भी उनके ही साहित्य के आधार पर यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि अपनी लौकिक यात्रा में उन्हें सुख, सन्तोष अथवा विश्राम नहीं मिला। 'रश्मि' की भूमिका मे यद्यपि उन्होंने घोषणा की है :—

"संसार साधारणतः जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है; उस पर पार्थिव दुःख की छाया नहीं पड़ी। कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है।"

हम उनके साथ भारी अन्याय करेंगे यदि अकारण ही इस बात को अमान्य समझें। पर क्या 'श्रृङ्खला की कड़ियाँ', 'अतीत के चलचित्र' और 'नीहार' की महादेवी स्वयं अपनी इस 'कदाचित् प्रतिक्रिया' के विरुद्ध प्रमाण उपस्थित नही करतीं ? 'श्रृङ्खला की कड़ियाँ' में जहाँ उन्होने नारी की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, गार्हस्थ्य, महापरतन्त्र, विवश, दयनीय स्थिति का चित्रण किया है, क्या वहाँ अपने मन का कोई क्षोभ कहीं नहीं है ? ऊपर जिस दुलार और आदर की चर्चा उन्होंने की है वे बच्चों और बुड्ढों को बहलाने के खिलौने हों तो हों, प्राणी उनसे नहीं बहलाया जा सकता। दुलार, आदर यहाँ तक कि जिस वस्तु को प्यार कहते हैं, जब वह भी अपात्र अथवा उथले पात्र की ओर से मिलता है या अन्धा अथवा विवेकहीन होकर आता है, तब सुख तो क्या सन्तोष भी नहीं मिलता। और असन्तोष जीवन की सबसे क्रूर शोषण-शक्ति है। भावना-प्रधान व्यक्ति, विशेष रूप से सूक्ष्म-चेतना-सम्पन्न प्राणी की आकुलता यह नहीं होती कि उसे शरीर का सुख नहीं मिला। शरीर वास्तविक कलाकार की चिन्ता का बहुत ही नगण्य अंश होता है। पर उसके

जीवन की सबसे बड़ी घातक-स्थिति (Tragedy) होती है यह कि जिस धरातल पर अपनी बुद्धि और मन को लेकर वह विचार या भाव-विनिमय करना चाहता है उस धरातल पर उसे सहानुभूतिपूर्वक समझनेवाले प्राणी प्रायः नहीं मिलते। हाँ, उसकी ओर आँख फाड़कर देखने वाले पिंडों की कभी कमी नहीं रहती। अपने सम्बन्ध में महादेवीजी ने जितना कहा है उसी को लीजिये। 'चलचित्र' के सभी संस्मरणों में चाहे वहाँ रामा जैसा कुरूप और अलोपी जैसा नेत्र-विहीन नौकर हो, चाहे मारवाड़िन, बिन्दो और बिट्टो जैसी विधवाएँ, चाहे सबिया मेहतरानी, रधिया कुम्हारिन और लछमी पहाड़िन और चाहे घीसा जैसा दीन छात्र —सभी पर 'महादेवी' की सजल ममता बरसी ही है, पर स्वयं उन्हें इन सबसे क्या मिला? इनमें से एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं है कि जिसे इतना ज्ञान तक हो कि जिस प्राणी के वात्सल्य और करुणा के हम आलम्बन हुए वह कितनी महान् है? और ऐसी दशा में जैसे वे दुःखी मनुष्यों के दुःख को अपनी ओर से भी प्रयत्न करके समझती, बँटाती तथा कम करती रहीं, उनकी पीड़ा को भी किसी ने समझने को क्या, जानने तक का प्रयत्न किया?

नीचे के वाक्यों से उनके 'बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है' कथन का सामंजस्य घटित कीजिए—

१. समता के धरातल पर सुख-दुख का मुक्त आदान-प्रदान यदि मित्रता की परिभाषा मानी जाये तो मेरे पास मित्र का अभाव है।

२. रहा दुःख का प्रकटीकरण—सो उसका लेशमात्र भी भार बनाकर किसी को देना मुझे अच्छा नहीं लगता।

३. पढ़ना समाप्त करते ही मैंने स्वयं अनेक विद्यार्थिनियों की चिंता करने का कर्त्तव्य स्वीकार कर लिया, अतः मुझे हठ कर खिलाने वाले व्यक्तियों का अभाव ही रहा है।

ये उदाहरण 'अतीत के चलचित्र' के अन्तिम संस्मरण के हैं जो २८ अगस्त १९३९ को महादेवीजी की ३२ वर्ष की अवस्था में लिखा गया।

उनका दुःख कितना ही गहन हो उसे मूर्तरूप देने का हल्कापन उन्होंने नहीं किया। उनकी किसी रचना में किसी के प्रति व्यक्तिगत आक्षेप, खीज,

निराशा और उपालम्भ के चिन्ह नहीं। क्षुब्ध होकर भी उनका जीवन सदैव शान्त ही रहा। पर उन्हें ठीक से संसार ने समझा नहीं, उपेक्षित ही रखा, यह 'नीहार' की कम-से-कम एक रचना से अवश्य झलकता है। 'सूखे सुमन' वाली कविता अन्त में आकर एक प्रकार से व्यक्तिगत हो उठी है—घोर निराशा और पछतावे से पूर्ण—

मत व्यथित हो फूल! किसको
सुख दिया संसार ने?
स्वार्थ-मय सबको बनाया—
है यहाँ करतार ने!

कर दिया मधु और सौरभ
दान सारा एक दिन,
किन्तु रोता कौन है
तेरे लिए दानी सुमन?

जब न तेरी ही दशा पर
दुख हुआ संसार को,
कौन रोएगा सुमन
हमसे मनुज निःसार को?

महादेवी की बुद्धि 'शृङ्खला की कड़ियों' में, आत्मा काव्य-ग्रंथों में और हृदय 'अतीत के चलचित्र' में निहित है। काव्य-सृष्टा के रूप में आज वे कितनी ही महान् हों, पर एक दिन वे नारी थीं और मूलतः आज भी वे नारी हैं। अक्षय सौन्दर्य के आकाश में उड़कर भी वे 'चलचित्रों' के ठोस धरातल को नहीं छोड़ सकी हैं। महादेवी न जाने कितने युगों की पूर्ण सजग महिला कलाकार हैं। उनके अन्तर में जो 'महानारी' बैठी है उसकी 'विवशता' शृङ्खला की कड़ियों में, 'ममता' अतीत के चलचित्रों में और 'मधुरता' यामा और दीपशिखा के गीतों में प्रकट हुई है। बचपन से ही उनमें इस विश्व के प्रति एक विस्मय-भावना छिपी थी। बड़ी हुई तो कुछ पहिले से बहती हुई रहस्य-भावना से उनका परिचय हुआ। उनके युग की परिस्थितियाँ भी उनके

अनुकूल पड़ीं। धर्म में आर्यसमाज के प्रभाव ने, पश्चिम के विज्ञानवाद और नवीन बुद्धि-प्रधान शिक्षा के सहयोग से, अवतारवाद की भावना को शिक्षित हृदयों में शिथिल किया। स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के वेदान्त-सम्बन्धी व्याख्यानों की गूँज मानों रहस्यवाद की पृष्ठ-भूमि बनने के लिए ही उठी थी। पूर्वदिशा में रवि ने अलौकिक प्रखर रहस्यमयी किरणें उस समय विकीर्ण कर ही दी थीं। पहिले अपने अन्तर का कुतूहल लेकर महादेवी खड़ी हुई। इधर संस्कृत के दार्शनिक ग्रन्थों ने उन्हें इस दिशा में प्रोत्साहित किया। बीच-बीच में संसार का जो असुखद अनुभव उन्हें हुआ उसका प्रतिवर्त्तन अतीव वेग से उन्हें रहस्यवाद की ओर ले गया।

इस बात पर किञ्चित् आश्चर्य होगा कि जो कार्य प्रसाद, निराला और पन्त ने बड़े आवेश से उठाया था उनके उस ओर से विमुख होने पर भी महादेवी ने उसे अकेले सँभाला और आज भी उस पथ पर उनकी धीर पद-चाप सुनाई दे रही है। कारण खोजने दूर नहीं जाना होगा। पन्त, प्रसाद और निराला तीनों अध्यात्मवादी होते हुए भी हृदय से शृङ्गारी हैं। यह बात पंत की युगांत की 'मंजरित-आम्रद्रुम-छाया' वाली रचना से, निराला की 'हाली' वाले गीत से और प्रसाद की अनेक स्थलों से स्पष्ट हो जाती है। परिणाम स्वाभाविक था कि वे अंत तक रहस्यवादी नहीं रह सके। जो पक्षी सीसे का टुकड़ा पङ्खों में फँसाकर उड़ेगा, वह कब तक उड़ सकता है? महादेवी का मन लोकसत्ता से एकदम विच्छिन्न हो, ऐसा नहीं। अतीत के चलचित्रों में उनके अंतर की उदारता लोक की ही पीड़ा को अपनी स्थिति और शक्ति के अनुसार कम करने में लग्न हुई है। पर महादेवी में ऐसा कहीं नहीं है जो विकृत हो। जो लोग आत्मा में विश्वास नहीं करते वे उनके मन को ही किसी अनुपात में विभाजित करके देखें, पर पायेंगे यही कि मन के जिस अंश से वे अध्यात्म का चिंतन करती हैं वह हीरे के समान एकदम उज्ज्वल है। उस साधना-प्रदेश में किसी लौकिक मूर्ति का झाँकना तक वर्जित है। कोमल से कोमल लौकिक भाव के लिए वहाँ एक ही उत्तर है—

लौट जा ओ मलय-मारुत के झकोरे!

रहस्यवाद की ओर ले जाने वाली महादेवी जी की आकुलता के मूल में कुछ भी रहा हो, एक दृष्टि से अच्छा ही है। बिना निर्दयता से मन के सपनों के टूटे आजतक कोई महान् कलाकार नहीं हुआ।

दुःख दुर्बल व्यक्ति के जीवन में अभिशाप बन जाता है, सबल व्यक्ति के जीवन में शक्ति। दीपक जलता है, उससे प्रकाश भी फैलता है, धुआँ भी उठता है। यहीं तक नहीं धुएँ-धुएँ में भी अंतर है। लकड़ी का धुआँ आँखों को कड़ुआहट देता है, अंगार का धुआँ गंध। दुःख में दुर्बल व्यक्ति आत्म-हत्या करता है, मध्य कोटि का अकर्मण्य हो जाता है या मदिरा पीता है और यही चोट जब बड़े व्यक्तित्व को घायल करती है, तो वह सृष्टा बन जाता है।

विरोध

My song, I fear that thou will find but few
Who fitly shall conceive thy reasoning,
Of such hard matter dost thou entertain;
Whence, if by misadventure, chance should bring
Thee to base company (as chance may do),
Quite unaware of what thou dost contain,
I Prithee,comfort thy sweet self again,
My last delight ! tell them that they are dull
And bid them own that thou art beautiful.

Epipsychidion—Shelley.

रहस्यवाद का विरोध किसी-न-किसी कारण से उसके जन्मकाल से ही होता आया है। सबसे पहिले उसका विरोध अज्ञान के कारण हुआ। जिस स्थूलता और प्राचीनता में जनता जकड़ी हुई थी उससे मुक्त होना नहीं चाहती थी। प्राचीन भाषा, प्राचीन छन्द, प्राचीन भाव, प्राचीन अभिव्यक्ति, प्राचीन काल—सभी प्रकार की प्राचीनता की उपासना चल रही थी। ब्रजभाषा प्यारी थी, कवित्त-सवैये प्यारे थे, शृङ्गारिक वर्णन प्यारे थे, चमत्कारिक उक्तियाँ प्यारी थीं, राधाकृष्ण प्यारे थे। इसके बाहर कुछ सार न था। ब्रजभाषा जैसी मिठास किसी बोली में नहीं मिल सकती थी। कवित्त-सवैये के साँचे ही छन्दों के पूर्ण साँचे समझे जाते थे। जो वर्णन रस-सागर में डुबा न दें वे वर्णन कैसे? समय ने पलटा खाया। भाषा-परिवर्तन हुआ, छन्द-परिवर्तन हुआ, अभिव्यक्ति में परिवर्तन हुआ। पर एक ही दिन में भाषा में माधुर्य भरना, छन्दों में सुडौलता लाना, भावों को स्थायित्व प्रदान करना, अभिव्यक्ति में स्पष्टता लाना, सम्भव नहीं होता। हुआ यह कि प्राचीन-पंथियों ने खड़ी बोली का, नवीन छंदों का, रहस्यवाद का, लाक्षणिक प्रयोगों का विरोध आरंभ कर दिया। उस विरोध में नासमझी की जो बातें मुख से निकलीं उनका ज्ञान

आज केवल वायु को होगा। नवीनता का विरोध करने के लिए जो लेख लिखे गए उनके पन्ने मैं समझता हूँ, पंसारियों के मसाले या वैद्यों की पुड़िया बाँधने के काम आ चुके होंगे।

अज्ञता-प्रदर्शन के उपरांत दूसरा आक्रमण विद्वत्ता का हुआ। इस सम्बन्ध मे सबसे प्रबल प्रहार पं० रामचन्द शुक्ल ने 'काव्य में रहस्यवाद' की कृपाण से किया। यह पुस्तक उनकी बहुत बड़ी खीझ, झुँझलाहट और आवेश का परिचय देती है। इसमें पूर्व और पश्चिम के कुछ वादों जैसे सर्ववाद, प्रतिबिंब-वाद, लोकादर्शवाद, प्रत्ययवाद, प्रभाववाद, अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद, स्वच्छन्दतावाद आदि पर व्याख्यान हैं जो स्वतन्त्र से लगते हैं: कुछ रस, अलङ्कार, छन्द, भावुकता, कल्पना, मूर्त्त, अमूर्त्त पर टिप्पणियाँ; थोड़े ब्लेक, ईट्स, वर्डस्वर्थ, शैली के काव्य से उदाहरण; साथ ही पंडित जी की दृष्टि से जो आज तक के लेखकों के वर्णनों में कमियाँ रह गई हैं उनका उल्लेख—जैसे 'मनुष्यों के वृत्त के साथ मिला हुआ किसी कुत्ते बिल्ली आदि' का वृत्त होना चाहिए। आधुनिक हिन्दी कवियों में से किसी एक का नाम नहीं, किसी के काव्य से उद्धरण नहीं, किसी के गुण-दोषों का सहानुभूति-पूर्वक विवेचन नहीं। भारतीय रहस्यवाद के मूल आधार, उसके विकास, उसकी स्थितियों आदि का कोई विवरण इस 'काव्य में रहस्यवाद' में नहीं मिलता। तात्पर्य यह कि यह निबंध, जैसी इसके नाम से धारणा बँधती है, रहस्यवाद के सम्बन्ध में कोई पूर्ण और व्यवस्थित विचारधारा उपस्थित नहीं करता। यहाँ-वहाँ अपने को रहस्य-भावना का विरोधी न घोषित करते हुए भी, उन्होंने जिसे 'साम्प्रदायिक रहस्यवाद' कहा है उसका घोर विरोध स्वयं साम्प्रदायिक कट्टरता से किया है। उनके शब्दों से ऐसा आभास मिलता है जैसे वे सद्भावना से प्रेरित होकर इस निबंध को लिख रहे हैं, पर सद्भावना और विद्वत्ता दोनों उनके संस्कारों से शासित हुई हैं। वही 'नर में नारायण' की उपासना सर्वोपरि; वही 'शक्ति शील और सौन्दर्य' तीनों विभूतियों का दिव्य समन्वय काव्य का एकमात्र आदर्श; और सब कुछ रूढ़ि, विदेशी, नक़ल, आलस्य, असत्य, अकर्मण्यता, पाखण्ड !

शुक्ल जी का कहना है : उपासना के लिए इन्द्रिय और मन से परे ब्रह्म

को पहिले ईश्वर के रूप में मन के पास लाया गया। कहीं इससे आगे बढ़कर विष्णु, शिव इन देवरूपों में—अर्थात् मनुष्य से ऊँची कोटि में—वाह्यकरण-ग्राह्य भावना भी हुई। भारतीय भक्ति-भावना यहीं तक तुष्ट न हुई। बड़े साहस के साथ आगे बढ़कर उसने 'नर में ही नारायणत्व' का दर्शन किया। यहाँ ब्रह्मवाद से ईश्वरवाद, ईश्वरवाद से त्रिदेववाद और त्रिदेववाद से अवतारवाद तक जनता के आने में शुक्ल जी को जो 'साहस के साथ आगे बढ़ना' दिखाई दे रहा है, वहाँ हमें तो स्पष्ट ही यह लगता है कि सूक्ष्मता से जनता की भावना बराबर स्थूलता की ओर बढ़ी है। यदि इस क्रम को हम उलटना चाहें तो कह सकते हैं कि अवतारवाद बहुत ही स्थूल बुद्धिवालों के लिए है। उससे कम स्थूल बुद्धि वालों के लिए त्रिदेववाद है। ईश्वरवाद और भी सूक्ष्म बुद्धि की अपेक्षा रखता है, और ब्रह्मवाद तो अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि से ही नहीं अनन्त जन्मों के संचित पुण्यों से प्राप्त अत्यन्त सात्विक संस्कारों से ही 'विषय' किया जा सकता है। उनकी बात से ही हमारी यह बात सिद्ध होती है कि ब्रह्मवाद पर चलनेवाला रहस्यवाद उपासना का सूक्ष्मातिसूक्ष्म साधन है।

इस निबन्ध मे उनका एक बहुत बड़ा तर्क यह है कि 'अज्ञात और अव्यक्त के प्रति केवल जिज्ञासा हो सकती है, अभिलाषा या लालसा नहीं।' यह अज्ञात शब्द भ्रमोत्पादक है। इस शब्द का प्रयोग उन्होंने इस कौशल से किया है कि पाठक शब्द के सामान्य अर्थ में उलझकर उनकी बात को चुप से स्वीकार कर लेता है। अज्ञात का तात्पर्य इतना ही है कि रहस्यवादियों का उपास्य राम-कृष्ण की भाँति स्थूल शरीरधारी नहीं है। रहस्यवादी 'सगुण निराकार' के उपासक होते हैं। शुक्ल जी ने उसी को ईश्वर कहा है। अब, ईश्वर के रूप की कल्पना भी कल्पना ही है। मनुष्य ने अपने शरीर के अनुरूप ही कुछ घटा-बढ़ा कर उसकी कल्पना नहीं की, विभिन्न धर्मों के अनुसार भी उसमें परिवर्तन किया है। एक विचारक ने तो व्यंग्य में यहाँ तक कह डाला है कि हिन्दू मुसलमान ईसाई आदि ने अपनी-अपनी धारणा के अनुरूप जो ईश्वर के रूप की कल्पना की है, यदि पशु-पक्षियों में भी कल्पना की यह शक्ति हो, तो

बिल्ली ईश्वर को एक सुन्दर बिल्ली और ऊँट ईश्वर को एक लम्बा ऊँट समझता होगा। इस बात से तो किसी का मतभेद नहीं हो सकता कि 'भाव के पूर्ण परिपाक के लिये आलंबन की निर्दिष्ट भावना आवश्यक है।' पर कौन कहता है कि रहस्यवादियों की भावना निर्दिष्ट नहीं होती? यह दूसरी बात है कि उस निर्दिष्टता का सम्बन्ध श्यामशरीर, काकपक्ष, तिलक और पीताम्बर, मुरली, गोपियों, नवनीत और पथ की छीना-झपटी तथा तट और निकुन्ज की क्रीड़ाओं से नहीं है।

मनोरंजन की बात यह है कि रहस्यवाद के विरोध और भक्ति की पुष्टि के लिये आचार्य शुक्ल ने अपने ढंग से जगत को ही 'नित्य' और 'आनन्द-मय' सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। कारण यह है कि बुद्धि की सारी विह्वलता 'अनित्य' से छुटकारा पा 'नित्य' की ओर तथा 'दुःख' से मुक्त हो 'आनंद' की ओर जाने की है। यदि यह जगत ही 'नित्य' और 'आनन्दमय' सिद्ध हो जाय, तो फिर सारी झंझट ही मिट जाय। शुक्ल जी ने लिखा है, "सारा वाह्य जगत भगवान का व्यक्त स्वरूप है। समष्टि रूप में वह 'नित्य' है; अतः 'सत्' है; अत्यन्त रंजनकारी है; अतः 'आनन्द' है।" यह भाषा की विजय है अथवा सत्यान्वेषण की? यदि जगत ही सच्चिदानन्द-स्वरूप होता तो ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहने की आवश्यकता नहीं थी। यदि जगत ही 'सत्' और 'आनन्द' होता तो प्राचीनकाल में ऋषियों की वह दीर्घ परम्परा न चलती। यदि जगत ही 'रंजनकारी' होता तो सम्राट् वैभव को लात मारकर तत्त्व-चिंतन के लिये न निकलते। तत्त्व दर्शियों ने तो उस स्थिति की भी घोषणा कर दी है जहाँ उस 'असंग' के सम्बन्ध में कुछ कहते ही नहीं बनता, जहाँ साधक अनुभवकर्त्ता न रहकर अनुभूतिमात्र रह जाता है। अतः यह समझ रखना चाहिये कि जगत के स्वरूप का मूल्य स्पष्ट घोषित करने के लिये ही उसे सच्चिदानन्द कहा गया है। जगत् 'असत्' है—वह 'सत्' है, जगत् 'जड़' है—वह 'चिद्' है, जगत 'दुःखमय' है—वह 'आनन्दमय है।' इतना ही।

एक बहुत दृढ़ भावना उनके हृदय में यह जमी प्रतीत होती है कि अपनी दीर्घ परम्परा के कारण भक्ति-भावना ज्ञान से श्रेष्ठ है। सब जानते हैं कि ज्ञान

की परम्परा भी उतनी ही प्राचीन है जितनी भक्ति की। रही रहस्यवाद की परम्परा। वह यद्यपि बँधकर नहीं चली, पर इससे उसकी श्रेष्ठता में बट्टा नहीं लग सकता। सूक्ष्मता को निरन्तर ग्रहण करना सहज नहीं है।

जिस प्रकार 'जिज्ञासा' और 'लालसा' का तर्क उन्होंने रहस्यवाद के संबन्ध में दिया है, यदि उसी प्रकार के तर्क हम अवतारवाद के सम्बन्ध में उपस्थित करें और पूछ बैठें कि एकदेशीय प्राणी राम 'ब्रह्म चिन्मय अविनाशी' कैसे हुए, तो भक्तों के पास इसका क्या उत्तर है? 'दशरथ नन्दन' 'विधि हरि शम्भु नचावनहारे' कैसे हुए तो 'भावना' अथवा 'आस्था' को छोड़ क्या कोई और तर्क सम्भव है? 'रहस्यवाद' को शुक्ल जी साम्प्रदायिक बतलाते हैं। अवतारों की उपासना क्या है? साम्प्रदायिक नहीं है क्या? क्या सभी जातियाँ राम और कृष्ण को उस रूप में ग्रहण करती या कर सकती हैं जिसमें तुलसी और सूर ने उन्हें अङ्कित किया है? अवतारवाद क्या रहस्यवाद की व्यापकता को कभी छू भी सकता है।

विद्वत्ता के उपरान्त अब कुछ दिन से आक्रमण हुआ है विद्वेश का। मेरा तात्पर्य प्रगतिवादियों से है। प्रगतिवाद रहस्यवाद का स्वाभाविक विरोधी है, क्योंकि दोनों के आधार दो विरोधी कोटि के हैं। प्रगतिवाद घोर भौतिकवाद पर आश्रित है और रहस्यवाद अद्वैतवाद पर जो भौतिकवाद को अत्यन्त निकृष्ट सिद्ध करता है। जैसा स्वयं एक प्रतिष्ठित भौतिकवादी का कहना है अध्यात्मवाद और भौतिकवाद में विरोध ही इस बात पर है कि अध्यात्मवादी प्रकृति से पूर्व एक महाचेतना की सत्ता मानते हैं, जबकि भौतिकवादियों की मान्यता है कि चेतनता प्रकृति के बाद ही उत्पन्न हुई। ऐसी स्थिति में यदि प्रगतिवादियों की यह धारणा हो गयी हो कि बिना रहस्यवाद का विरोध किये उनका 'वाद' पनप ही नहीं सकता, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर भारत में जब तक कोई ऐसा भौतिकवादी उत्पन्न नहीं होता जिसकी बुद्धि विशाल भारतीय दार्शनिक वाङ्मय से टक्कर ले सके, तब तक ब्रह्मवाद नष्ट हो, न रहस्यवाद।

आचार्य शुक्ल के विचारों के संबंध में और कई बातें कही जा सकती हैं। आधुनिक रहस्यवाद के संबंध में उनके बहुत-से आरोप ऐसे हैं जिनमें कुछ

सार नहीं। उनका कहना है, "योरोप का सिद्धांती रहस्यवाद जो ब्लेक ईट्स मे पाया जाता है, अरब फारस के सूफियों के यहाँ से गया। ....यह विलायती रहस्यवाद बँगला से होता हुआ हिन्दी में आ निकला।" इस बात से हिन्दी का शायद ही कोई आलोचक सहमत हो। प्रसाद, निराला, महादेवी आदि ने अपने लेखों में रहस्यवाद का मूल उपनिषदों में माना है और मूल रूप में भारतीय वाङ्मय और ज्ञान-परंपरा ही उनकी प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। पंत जी के संबंध में थोड़ा संदेह किया जा सकता है कि उनके काव्य में रहस्यवाद का स्फुरण अँगरेजी के वर्डस्वर्थ और शेली एवं बँगला के रवीन्द्रनाथ के प्रभाव से हुआ हो। रहस्यवाद को 'वादग्रस्त' और 'स्वाभाविक' दो श्रेणियों में विभाजित करते हुए शुक्ल जी ने ब्लेक और ईट्स को पहली और वर्डस्वर्थ एवं शेली को दूसरी कोटि में रखा है और पिछले दोनों कवियों की स्वयं बहुत प्रशंसा की है। अँगरेजी और बँगला से प्रभावित होते हुए भी पंत जी के रहस्यवाद का मूलस्वर भारतीय ही है और जैसा आधुनिक कवि की भूमिका से पता चलता है, बाद में तो उन्होंने भी उपनिषदों का गंभीर अध्ययन किया है। इस अध्ययन का प्रभाव 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण धूलि' और 'उत्तरा' में स्पष्ट पाया जाता है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक हिंदी काव्य में रहस्य की मूल धारा भारतीय ही है; अतः शुक्ल जी का यह कहना कि रहस्यवाद एक विदेशी प्रवृत्ति है विशेष अर्थ नहीं रखता।

यों शुल्क जी रहस्यवाद को काव्य की एक प्रवृत्ति मानने के पक्ष में हैं। उनका विरोध तो वादग्रस्त रहस्यवाद से है। उन्होंने बार-बार कहा है, "रहस्यवाद एक साम्प्रदायिक वस्तु है।" इस बात को एक दूसरे दृष्टिकोण से देखें तो इस आरोप की कट्टरता कुछ कम होती दिखाई देगी। हमारा कहना है कि साम्प्रदायिक होने से ही काव्य दूषित नहीं हो जाता। ऐसा होता तो हम अपने देश के निर्गुण, सूफ़ी और भक्ति काव्य में समान रूप से रस ले ही नहीं सकते थे। यह बात स्वतः सिद्ध सी है कि काव्य का रसज्ञ पाठक कविता के सिद्धांत-पक्ष में बिना उलझे उसकी सामान्य-भूमि में विचरण करता हुआ आनंद की उपलब्धि करता है। यही कारण है कि वह अपने देश के काव्य

का ही नहीं संसार की सभी भाषाओं में लिखित काव्य का आनंद निर्विघ्न भाव से लेता है। क्योंकि मनुष्य का हृदय सभी कहीं एक-सा है; अतः वह सभी प्रकार के सौंदर्य से प्रभावित होने की क्षमता रखता है, सभी प्रकार के मार्मिक वर्णनों से विचलित होता है, सभी प्रकार की रम्य कल्पनाओं में डूब जाता है।

रहस्यवाद को शुक्ल जी ने 'संसार, जीवन और भाव से तटस्थ' बतलाया है। उनके इस आरोप का आधार क्या है, हम नहीं जानते। संभव है उस समय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कुछ कृत्रिम रचनाओं को देखकर वे क्षुब्ध और विचलित हो उठे हों। उनके ग्रंथ की एक कमी यह भी है कि वह कोई बात कहकर उसका समर्थन काव्य से उद्धरण देकर नहीं करते; अतः वे किससे अप्रसन्न हैं, पता ही नहीं चलता। उनका व्यंग्य किसको लक्ष्य बनाकर चल रहा है, यह हम जान ही नहीं पाते। उनके इस आरोप के विरोध में छायावाद काल के चारों प्रमुख कवियों का रहस्य-काव्य रखा जा सकता है—महादेवी जी का काव्य तो विशेष रूप से। रहस्य-काव्य क्योंकि प्रणय-काव्य है; अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि वह भाव-भूमि से दूर है? प्रणय क्योंकि जीवन की सबसे प्रेरक वस्तु है; अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि उस पर आधारित काव्य जीवन से दूर है? इस प्रणय के सूत्र से ही सारा संसार आबद्ध है; अतः यह कौन मानने को तैयार होगा कि रहस्य-भावना में संसार को स्थान नहीं मिल पाता? हाँ, जिस अर्थ में हम भाव, जीवन और संसार को अब तक समझते आए हैं, वे अर्थ इन शब्दों को रहस्य-काव्य में नहीं मिल पाते। वहाँ भाव से अर्थ प्रेम के पवित्र भाव और जीवन से पवित्र जीवन का है।

शुक्ल जी ने रहस्यवादी कला पर भी दो आरोप लगाए हैं। इनमें से पहला है 'कृत्रिम शब्द भंगी' का और दूसरा 'उल्टी सीधी अव्यवस्थित कल्पना' का। इन दोनों आरोपों की परीक्षा भी उस समय तक नहीं हो सकती, जब तक वे हिन्दी के रहस्य-काव्य से उद्धरण न दें। लेकिन ऐसा उन्होंने किया नहीं है। ये दोनों ही आरोप बड़े अनिर्दिष्ट (Vague) से हैं और किसी भी प्रकार के काव्य पर लागू हो सकते हैं। छायावाद युग के काव्य का अध्ययन

अब भी पूर्ण नहीं है और हिन्दी के पाठक जानते हैं कि आधुनिक काव्य के कलापक्ष पर तो बहुत-ही कम लिखा गया है। उस पर लिखने के लिए बड़ी योग्यता, अध्यवसाय और सहानुभूति की आवश्यकता है। जिस दिन व्यवस्थित ढंग से इस शताब्दी की कला का अध्ययन कोई प्रस्तुत करेगा, उस दिन हमारा विश्वास है, काव्य के क्षेत्र में हमें संकुचित होने का अवसर नहीं मिलेगा। मैं कई स्थानों पर इस बात को बलपूर्वक कह चुका हूँ कि भक्तिकाल के उपरांत छायावाद-काल ही ऐसा है जिस पर हम गर्व कर सकते हैं। तुलसी, सूर, जायसी और कबीर के समान इस युग के प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी भी काव्य-गगन के उज्ज्वलतम नक्षत्र हैं। भाव, कल्पना, विचार और कला चारों क्षेत्रों में इस युग की अपनी अनुपम देन है। भाव पक्ष का विश्लेषण तो हो भी गया है, पर कला पक्ष इतना समृद्ध है कि जिस दिन काव्य-शास्त्री इस क्षेत्र की छान-बीन करेंगे, उस दिन न जाने कितने काव्य-सिद्धांतों का जिनसे हम अभी तक परिचित नहीं थे, अगणित नए काव्य-प्रसाधनों का जो मौलिकता के परिचायक होंगे, पता चलेगा। तब ऐसे हल्के आरोप अपने-आप हवा में उड़ जायेंगे। व्यक्तिगत रूप से मुझे प्रसाद, निराला, पंत महादेवी के काव्य में न कहीं अव्यवस्थित कल्पना के दर्शन होते हैं और न कृत्रिम शब्द-भंगी के। निराला की कल्पना कहीं-कहीं दुरूह है; पर इतनी दुरूह नहीं कि अर्थहीन या अशक्त हो गई हो। प्रतीकों के प्रयोग को लेकर कुछ कहा जा सकता है; लेकिन जिस समय पाठक को यह निश्चय हो जाता है कि अमुक प्रतीक का अमुक प्रसंग में अमुक अर्थ है, उस समय पूरी रचना में जिस संकेत और अर्थ की उसे उपलब्धि होती है उससे उत्पन्न दशा की आनन्दमयी स्थिति को उसका हृदय ही पहचानता है।

शुक्ल जी ने रहस्यवाद का विरोध करते हुए भी ईश्वर को बना रहने दिया, पर प्रगतिवादी इस सीमा तक प्रगति कर गये हैं कि ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं मानते। ईश्वर-विश्वास को तो वे जनता का मस्तिष्क विकृत करने वाला 'अफ़ीम का नशा' समझते हैं। इस प्रकार प्रगतिवाद के साथ अकल्याणकर अनीश्वरवाद आ रहा है। जहाँ संसार और शरीर को सब कुछ

समझा जाता है, वहाँ जड़वाद स्वाभाविक रूप से आ ही जाता है। धर्म में चार्वाक मत बहुत पहले अपनी असफलता देख चुका है, काव्य में उसे संभवतः वही असफलता देखनी है।

वैसे साहित्य सतत् विकासोन्मुख है और 'विकास' तथा 'प्रगति' एक ही भाव के दो शब्द होने से हमें इस निश्चय पर पहुँचाते हैं कि प्रगति साहित्य का एक स्थायी विशेषण है। अर्थात् नदी की धारा की भाँति साहित्य की भावधारा समय की ढलकाऊ भूमि पर सतत् गतिमयी, विकासमयी और प्रगतिमयी होती है। हिन्दी-साहित्य को ही देखें तो वह एक ही प्रवृत्ति में बँधकर कभी नहीं रहा। कभी वह वीरगाथाओं को लेकर चला, कभी अज्ञात शक्ति की जिज्ञासा को, कभी राम-कृष्ण के किलकते मंगलमय स्वरूप को, कभी नारी के आकर्षक सौंदर्य को, कभी आत्मा की आकुलता को, कभी दलितों के दुःखी जीवन को और अब उपचेतन की निगूढ़ और उलझी भावनाओं को। सुधार से भी उसका विरोध नहीं रहा। हमारे यहाँ कबीर और तुलसी महान् सुधारक हो गये हैं। पर कबीर और तुलसी लोक-कल्याण की चिन्ता में भी काव्य में आत्मचिंतन को नहीं भूले थे। हम तो यही मानते हैं कि हमारे काव्य में जो सत्य, जो स्वस्थ, जो सुन्दर है वह सब हमारे प्राणों का परिष्कार करने वाला है, सब हमारा है। वह प्रगतिवाद में हो तो, रहस्यवाद में हो तो और प्रयोगवाद में हो तो। हम किसी वाद विशेष के उपासक नहीं सत्य के उपासक हैं। पर जब प्रगतिवाद के नाम पर कोई महादेवी की रचनाओं में 'क्षयरोग के कीटाणु' देखता है अथवा 'प्रसाद' को 'प्रतिक्रियावादी' कहता है, तब कोई और उत्तर न देकर केवल इतना चाहते हैं कि कामायनी के महान् सृष्टा अथवा व्याकुल प्राणों की इस अमर गायिका जैसी प्रतिभा का कोई कवि प्रगतिवाद के क्षेत्र में भी देख पाते।

प्रगतिवाद मार्क्सवाद का साहित्यिक संस्करण है; अतः मार्क्सवाद की जो भलाइयाँ-बुराइयाँ हैं वे प्रगतिवाद में आज नहीं कल आयेंगी। अभी मज़दूर और किसानों के प्रति सहानुभूति और पूँजीपतियों के प्रति काव्य में रोष प्रकट हुआ है—शोषक-शोषित की समस्या चल रही है। पर इसके उपरान्त वैवाहिक बंधन कुछ नहीं है, परिवार कुछ नहीं है, देश कुछ नहीं है, धर्म कुछ

नहीं है और ईश्वर कुछ नहीं है की वे अभ्रभेदी ध्वनियाँ भी गूजेंगी जो केवल अपने कर्कश कोलाहल में जीवन के बहुत से मधुर और श्रेयमंडित स्वरों को दबाने का प्रयत्न करेंगी।

श्री० एम० एन० राय ने एक स्थान पर अत्यन्त स्पष्टता और निर्भीकता से लिखा है कि यूराप में भी जहाँ के मार्क्स रहने वाले थे, परिवर्तन ठीक उसी प्रकार से नहीं हुआ जैसी मार्क्स ने कल्पना की थी, फिर भारत के विषय में उनकी धारणाओं का अचूक समझना पागलपन होगा। विवश होकर उन्हें यहाँ तक लिखना पड़ाः—

But it pains me that many are not realising the far reaching implications of Marxism. They don't take pains to understand and study Marxsim. but simply behave like parrots, reading a few books and repeating phrases learned by heart. And every body who does not repeat those phrases literally, is a counter-revolutionary.

जैसा राय महोदय की बातों से झलकता है यदि मार्क्स सत्य के सम्बन्ध में अन्तिम बात कहने नहीं आये थे तब हमें उनकी बातों का अंधानुकरण नहीं करना चाहिये। यदि १६ वीं शताब्दी में एक मनीषी द्वारा सत्य की घोषणा हो सकती थी, तब उपनिषद काल में भी यही सम्भावना थी। और यदि इस बात पर हठ हो कि १६ वीं शताब्दी उपनिषद् काल से अधिक विकसित शताब्दी थी, तब विकास का पथ अभी रुक नहीं गया है।

प्रगतिवादी मूलतः अभी साहित्यसेवी नहीं है। उसे हमारे साहित्य के सौंदर्य की परख तो तब हो जब अपने साहित्य से उसे ममता हो। वह एक विदेशी राजनीतिक गुट्ट का भारतीय सदस्यमात्र है। यह गुट्ट अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए साहित्य को एक अस्त्र-मात्र समझता है; अतः उससे अधिक आशा करना व्यर्थ है। जैसे वह भारतीय राजनीति के मंच को अधिकृत करने का प्रयत्न कर रहा है, उसी प्रकार यहाँ के साहित्य को भी अपने प्रचार का साधन बनाने के प्रयत्न में सभी उपायों का अवलंब ले रहा है। पर प्रारंभ से ही उसने जिस विध्वंस की वृत्ति को अपनाया है, वह उसी के लिए हानिकर

सिद्ध होगी। निर्माण को छोड़कर जब कोई शक्ति केवल विरोध में दत्तचित्त होती है, तब उसकी सफलता सदैव संशयात्मक रहती है। इसमें तो कुछ कहना नहीं कि किसी वाद की सफलता उसके समर्थकों की शक्ति पर निर्भर करती है। राजनीति में इस समय भारत की श्रेष्ठतम चेतनाएँ (best intellect) अहिंसावादी हैं, और इस युग की साहित्यिक चेतनाएँ उज्ज्वल भारतीयों के चरित्रों के निर्माण की ओर, राष्ट्रप्रेम की ओर, मानवता के विश्लेषण की ओर और रहस्यवाद की ओर बह रही हैं। वर्तमान राजनीतिक परिधि से दूर होकर कुछ राजनीतिज्ञों ने अपने पृथक पथ निर्माण करने की असफलता देख भी ली है। इससे हम किसी को छोटा बड़ा कहना नहीं चाहते; पर जो आगे आवे वह कोई ठोस सुझाव लेकर तो आवे। केवल किसी जीवित शक्ति की 'शव-परीक्षा' करने से तो काम नहीं चलता। यही बात साहित्य के लिए भी लागू होती है। एक ओर प्रगतिवाद के नाम पर हिन्दी में जो आ रहा है वह निश्चय ही रूखा, अरुचिकर और निःशक्त है और दूसरी ओर हम तुलसी, प्रसाद, मैथिलीशरण और महादेवी का विरोध करना चाहते हैं—उनकी शक्ति को परखे बिना !

कैसे पश्चात्ताप की बात है कि लोक कल्याण की कामना का दम भरने वाला व्यक्ति इतने विकृत रूप में अपना हृदय उड़ेल रहा है ? कितनी पीड़ा की बात है कि जर्जर रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न करके मानवता की भावना को जन-मन में भरने वाला उत्साही इतनी संकुचित दृष्टिवाला हो गया है ? कितने संकोच की बात है कि राजनीति और समाजनीति के ऐसे स्वस्थ दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का भार ऐसे व्यक्तियों के हाथ में दे दिया गया है जो अपनी बात तक समझाना नहीं जानते ? और कितनी हँसी की बात है कि साहित्य में अपने अनुयायियों की गिनती गिनाने की धुन में रहस्यवाद के बड़े-से-बड़े कवि का अकारण तिरस्कार करता हुआ प्रगतिवाद का समर्थक अपने यहाँ के दुधमुँहे बच्चों तक की सामान्य से सामान्य रचनाओं को अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करने से नहीं हिचकता ? प्रगतिवाद के भीतर एक सत्य है, एक शक्ति है। पर उस सत्य की अभिव्यक्ति उसके अधिकारी आलोचक, और उस शक्ति

की अभिव्यक्ति प्रभावशाली लेखक उत्पन्न करके ही हो सकती है।

उसका आलोचक अपने मुक्त पलों में इन बातों को कभी-कभी सोचता है, और विवश होकर कभी हँसी के छींटों से और कभी खीझ की नोंक से सचेत भी कर ही देता है :—

"कभी-कभी स्त्रियों को स्वाधीन करने के उत्साह में वह अपने साथ ही अन्याय कर बैठते हैं। कहते हैं—'जाँघों में पौरुष भर लाओ।' यह गुण उन्हें अपने लिए ही सुरक्षित रखना चाहिए।"

—डा० रामविलास।

"यदि कोई प्रगतिशीलता के नाम पर हमारे पुराने अमर कलाकारों—वाल्मीकि, अश्वघोष, कालिदास, भवभूति, बाण, सरहपा, जायसी, सूर, तुलसी से लेकर प्रेमचन्द और प्रसाद तक—से हाथ धो लेना अपना कर्त्तव्य समझता है तो यह प्रगतिशीलता नहीं है।....प्रगति-शीलता के नाम पर उनको अपमानित और स्थानच्युत करने का प्रयत्न एक पागलपन, एक लड़कपन के सिवा और कुछ नहीं है।"

—श्री राहुल सांकृत्यायन

यह सैद्धांतिक मतभेद की बात हुई। चिंतकों में मतभेद बहुत स्वाभाविक है। जीवन के विकास के लिए यह स्वस्थ लक्षण माना जायगा कि वह किसी रूढ़ि से बद्ध न हो जाय। विचारकों को यह स्वतंत्रता सदैव मिलनी चाहिए कि वे स्वतंत्र रूप से चिंतन करके अपनी मौलिक प्रतिभा का प्रमाण देते हुए जगत का कल्याण करते रहें। दर्शन के क्षेत्र में हमारे यहाँ न्याय (गौतम) वैशेषिक (कणाद) सांख्य (कपिल) योग (पतंजलि) पूर्व मीमांसा (जैमिनी) और उत्तर मीमांसा या वेदांत (व्यास) प्रसिद्ध हैं; पर ये एक दूसरे के विरोधी नहीं समझे जाते। षट् दर्शन की ये चिंतन-प्रणालियाँ अपने-अपने ढंग से आत्मा, ब्रह्म, सृष्टि, देश (Space) और काल (Time) आदि की व्याख्या प्रस्तुत करती हैं।

संसार के सभी दर्शनों के समान साम्यवाद का भी एक दर्शन है और सभी विचार-पद्धतियों के समान उसका भी अपना मूल्य है। इन दर्शनों के

कबीर की भावना निर्गुण ब्रह्म के प्रति है; पर जब यह भावना प्रेम का रूप धारण करती है, तो ब्रह्म का भी एक स्वरूप हो जाता है और आत्मा को उससे कोई संबंध स्थापित करके चलना पड़ता है। कबीर ने यद्यपि ईश्वर को कहीं मा, कहीं पिता और कहीं मित्र कहकर पुकारा है; पर अधिकतर उन्होंने उसे प्रेमी ही माना है। उनकी इस प्रकार की रचनाओं में आत्मा सभी कहीं नारी और परमात्मा पुरुष के रूप में है। कबीर का विश्वास था कि भगवान से मिलन ही जीवन का वास्तविक लक्ष्य है और जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक व्यक्ति की आत्मा बहुत व्याकुल रहती है। अपने मन की कामना प्रकट करते हुए इसी से एक स्थान पर वे कहते हैं—

वे दिन कब आवेंगे माइ।
जा कारन हम देह धरी है, मिलिबो अंग लगाइ।
यह अरदास दास की सुनिए, तन की तपन बुझाइ।
कहै 'कबीर' मिलैं जे साईं, मिलि करि मंगल गाइ।

कबीर ने शरीर और संसार को कोई महत्त्व नहीं दिया; अतः यह स्पष्ट है कि उन्होंने जो कुछ कहा है, वह आत्मा को लक्ष्य करके ही। ऐसी दशा में पुरुष होकर यदि वे अपने को परमपुरुष की प्रियतमा या पत्नी बतलाते हैं, तो यह बात अस्वाभाविक नहीं लगनी चाहिए। आत्मा का अपना कोई स्वरूप नहीं होता। साधक की भावना के अनुकूल उसे स्त्री या पुरुष कुछ भी माना जा सकता है। सूफी लोग ईश्वर को स्त्री मानकर अपने को पुरुष मानते ही हैं। जायसी इसके उदाहरण हैं। लेकिन संतों की धारणा इसके बिल्कुल विप-रीत है। वे ईश्वर को पुरुष और आत्मा को स्त्री के रूप में देखते हैं। कबीर के भाव-जगत के संबंध में दूसरी स्पष्ट करने योग्य बात यह है कि यद्यपि उनका प्रेम तो आध्यात्मिक ही है; पर उसे प्रकट किया है उन्होंने लौकिक संबंधों के द्वारा। यदि वे ऐसा न करते तो उनके पाठकों की समझ में उनकी बात ही न आती। उनके भाव-लोक से संबधित तीसरी बात यह है कि बहुत-सी बातें स्पष्ट न कहकर उन्होंने संकेत से कही हैं। आध्यात्मिक अनुभूति को ज्यों का त्यों व्यक्त करना बहुत कठिन काम है; इसी से काव्य में बहुत-से प्रतीकों और

संकेतों का सहारा कवि को लेना पड़ता है। इससे उनकी बात कहीं-कहीं दुरूह भी हो गई है। इसी से मिलती-जुलती कला-संबंधी एक चौथी बात है और वह यह कि उन्होंने अपनी भावना को व्यक्त करते समय हठयोग के बहुत-से पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। जो व्यक्ति हठयोग में प्रयुक्त होने वाले ऐसे शब्दों जैसे सुन्न महल, अनहद, सुरति-निरति, सबद, हंस, मानसरोवर आदि का अर्थ नहीं जानता, वह कबीर की भावना को पूरी तरह समझ ही नहीं पायेगा। कबीर के इस प्रसिद्ध पद को ही लीजिए जो उनकी भावना को सामान्यरूप से व्यक्त करता है—

तो को पीव मिलेंगे, घूंघट के पट खोल रे!
सुन्न महल में दियना बार ले, आसा सों मत डोल रे!
जौग जुगत सों रंग महल में, पिय पायो अनमोल रे!
कहै कबीर आनंद भयो है, बाजत अनहद ढोल रे!

परन्तु बहुत-से स्थानों पर भावना अत्यंत सरल और स्पष्ट होकर भी आई है। उससे पता चलता है कि कबीर को प्रेम-भाव का बहुत अच्छा ज्ञान था और उसकी अनुभूति वे अत्यंत तीव्रता से करते थे। एक स्थान पर वे प्रिय-दर्शन की प्यास से बावले-से घूम रहे हैं। एक दूसरे स्थान पर उन्होंने बतलाया है कि प्रेमियों का संसार बहुत सीमित होता है और उसका सुख एकांत में ही लिया जा सकता है। एक तीसरे स्थान पर उन्होंने एक मार्मिक स्वप्न की चर्चा की है और अत्यंत विदग्ध वाणी में मन के आकर्षण को व्यक्त करके दिखलाया है—

बिरह कमंडल कर लिए, वैरागी दो नैन,
माँगैं दरस मधूकरी, छके रहैं दिन रैन।
नैना अंतर आव तू, ज्यौं हौं नयन झपेउं,
ना हौं देखौं और कौं, ना तोहि देखन देउं।
सपने में साँई मिले, सोते लिया जगाइ,
आँखि न खोलूं डरपता, मत सपना ह्वै जाइ।

सांसारिक प्रेम की प्रथा तो यह है कि पहले हम किसी को देखते हैं; देखते ही आकर्षण होता है, परिचय बढ़ता है और एक दिन मिलन या विरह में वह

प्रेम समाप्त हो जाता है। पर संतों के आध्यात्मिक प्रेम में दर्शन की बात प्रारंभ में नहीं उठती। उनका ऐसा विश्वास है कि आत्मा का वास्तविक निवास-स्थान किसी ऐसे लोक में है जहाँ सूर्य-चंद्र प्रकाश नहीं करते, जहाँ पवन पहुँच नहीं पाता। उस लोक में उनका प्रेमी रहता है। उससे बिछुड़कर आत्मा यहाँ आ गई है; पर लौटकर उसे वहीं जाना है। अतः प्रारंभ होता है इस चेतना से कि आत्मा अपने प्रियतम से वियुक्त है। इस चेतना को जगाने वाला कोई सतगुरु होता है। यही कारण है कि संत साहित्य में गुरु की बड़ी भारी महिमा बतलाई गई है। वियोग का ध्यान आते ही वियोग की व्यथा जग पड़ती है। मिलन प्रायः अंत में होता है। इस अंत का नाम मृत्यु है। कबीर मृत्यु की भयंकरता स्वीकार नहीं करते। वे उसे दूती के रूप में देखते हैं जो आत्मा को परमात्मा से मिलाती है। मिलन से पूर्व जैसे लौकिक प्रेम में कई अवस्थाएँ होती हैं, वैसे ही आध्यात्मिक विवाह और सीढ़ियाँ चढ़कर रंग-कक्ष में पहुँचने की चर्चा भी कबीर ने अपने पदों में की है।

एक स्थिति यह है—

सतगुरु सोइ दया कर दीन्हा,
ताते अन-चिन्हार मैं चीन्हा।
चंद न सूर, दिवस नहिं रजनी, तहाँ सुरत लौ लाई।
बिना अन्न अमृत रस भोजन, बिन जल तृषा बुझाई।
जहाँ हरख तहँ पूरन सुख है, यह सुख कासौं कहना।
कह 'कबीर' बलि-बलि सतगुरु की, धन्य सिष्य का लहना,

दूसरी यह—

दुलहिन गावहु मंगलचार।
हम घर आए हो राजा राम भरतार।
तन रत करि मैं मन रत करि हौं, पंचतत्त्व बराती।
रामदेव मोरे पांहुने आए, मैं जोबन में माती।
सरीर सरोवर वेदी करि हौं, ब्रह्मा वेद उचार।
रामदेव संग भाँवरि लैहूँ, धनि-धनि भाग हमार।

· और तीसरी यह—

निस दिन खेलत रही सखियन सँग
मोहि बड़ा डर लागै ।
मोरे साहब की ऊँची अटरिया
चढ़त में जियरा काँपै ।
जो सुख चहै तो लज्जा त्यागै
पिया से हिलमिल लागै ।
घूंघट खोल अंग भर भेंटे
नैन आरती साजै ।

परन्तु जब साक्षात्कार होता है, तब बड़ी लाज लगती है। यह ठीक है कि जन्म-जन्मान्तर की साध आज पूरी होने जा रही है; परन्तु, जब प्रियतम की महानता और अपने छोटेपन का ध्यान आता है, तो इच्छा होती है लज्जा से कहीं गड़ जायँ। कहाँ वह आलोकमय और कहाँ दोषों से भरे हम !

जा कारन मैं ढूंढ़ता, सोई मिलिया धाइ।
धनि मैली पिउ ऊजरे, कैसे लागू पाइ।

काव्य के क्षेत्र में जायसी कबीर से कुछ अधिक ही भावुक थे। कबीर जितने बड़े प्रेमी थे, उतने ही महान् सुधारक भी। वे व्यक्ति-कल्याण और लोक-कल्याण दोनों को लेकर चले हैं। अपनी मुक्ति के साथ लोक को सुधारने की प्रबल आकांक्षा उनमें विद्यमान है। यही बात और अधिक व्यापक भूमि पर तुलसी में पाई जाती है। प्रेम के पलों में कबीर जितने कोमल दिखाई देते हैं, सुधार के पलों में उतने ही कठोर। कोमल और कठोर का बहुत सुन्दर समन्वय उनके काव्य में पाया जाता है। जायसी में सुधार की भावना नहीं है। लोक हित की भावना भी उनके काव्य में अधिक कलात्मक ढंग से व्यक्त हुई है। सभी सूफियों के समान वे तो प्रेम के प्रतीक थे—प्रेममय थे। जैसे कबीर ने राम-रहीम की एकता की भावना अपने उपदेशों द्वारा व्यक्त की, वैसे ही जायसी ने मनुष्यमात्र के हृदयों की समानता का प्रतिपादन अपने काव्य द्वारा किया। प्रेम में जहाँ कबीर ने परमात्मा की कल्पना पुरुष रूप में की है,

वहाँ जायसी ने स्त्री रूप में। इस प्रकार साधना के क्षेत्र में स्त्री पुरुष के संबंधों के प्रतीकों को स्वीकार करते हुए भी दोनों के दृष्टिकोण एक-से नहीं हैं।

कबीर में प्रेम की अभिव्यक्ति जहाँ मुक्तक रूप में हुई है, वहाँ जायसी में उसका आधार प्रबंध है। जायसी के महाकाव्य* 'पद्मावत' में कथा का निर्वाह एक ओर से दूसरी ओर तक समस्त प्रसंगों के साथ बड़ी सफलता से हुआ है। प्रबन्ध उसमें कहीं भी खंडित नहीं है। सच पूछिए तो यह रत्नसेन-नागमती-पद्मावती की जीवन-गाथा ही है जो मूल रूप से हृदय को स्पर्श करती है। रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति इसी कथा के माध्यम से हुई है। यदि कथा को हटा दिया जाय तो रहस्यवृत्ति एकदम फीकी पड़ जायगी। मार्मिक कथानक का सहारा लेने के कारण ही जायसी के वर्णन का प्रभाव कबीर और महादेवी की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित रूप में हमारे हृदय पर पड़ता है। काव्य-कला की दृष्टि से भी जायसी का रहस्यवाद कबीर के रहस्यवाद की तुलना में अधिक प्रभावशाली प्रतीत होता है। भक्तिकाल जिसमें कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि ने काव्य-साधना की, एक ऐसा काल है जिसमें धर्म ने काव्य को आच्छादित कर रखा था। लेकिन उसके संबंध में यह मत व्यक्त करना कि काव्य की साधना सभी कवियों ने धर्म के प्रचार के लिए की, ठीक नहीं प्रतीत होता। इससे हानि यह हुई कि पद्मावत या रामचरित-मानस का अध्ययन अधिकतर इसी दृष्टिकोण से हुआ है और शुद्ध काव्य की दृष्टि से उन पर बहुत कम विचार हो पाया है।

प्रेम, धार्मिक पवित्रता और उच्चस्तरीय नैतिकता के तत्त्व अपने में लिए हुए होने पर भी रामचरित-मानस और पद्मावत इतने धार्मिक ग्रंथ नहीं माने जाने चाहिए जितने काव्य-ग्रंथ। जीवन की विराट मार्मिक छवियों के अनुपम कलात्मक चित्रों के भंडार होने के कारण ही इन महान् कृतियों की महत्ता है। धर्म को यहाँ जीवन की समस्याओं के समाधान के रूप में ही स्वीकार

---

* पता नहीं आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'पद्मावत' को महाकाव्य क्यों नहीं माना।

करना चाहिए। यह ठीक है कि हमारे बहुत-से अध्यात्मवादी कवि जीवन से ऊपर उठे हुए प्रतीत होते हैं विशेष रूप से तुलसी और कबीर; पर कवि भी अंततः इसी संसार का प्राणी होता है। उसकी कृतियों में लौकिक वृत्तियों की छाप न पड़ना आश्चर्य की बात होगी। सूरदास में मन की ढील के अनेक चित्र पाए जाते हैं। जायसी के आध्यात्मिक संकेतों में पूरी मादकता के दर्शन होते हैं। इन्होने प्रेम-दशा की तुलना सुरा से की है और ईश्वर को नारी मानने के कारण उसके साथ साधक के एकाकार को संयोग-शृङ्गार के द्वारा व्यक्त किया है। इसी से रूप के वर्णन और मिलन के प्रसंग कहीं-कहीं अश्लील हो गए हैं। ये वर्णन प्राणी को इतने उत्तेजित करते हैं कि इनकी मादकता को शीघ्र विस्मरण करना असंभव है। जायसी के वर्णन में शुष्कता का समावेश केवल वहीं हुआ है जहाँ वे वस्तुओं के प्रकारों का जी उबाने वाला उल्लेख, पारिभाषिक शब्दों का अत्यधिक प्रयोग, हठयोग में वर्णित पिंगला-सुषमन नाड़ी, शून्य समाधि और तारी आदि की चर्चा करने लगते हैं। जायसी के काव्य की सरसता उनकी अपनी विशेषता है—निजी निधि। प्रेम का बहुत ही गहरा अनुभव जायसी को न जाने कहाँ से था। तुलना करने पर यही कहते बनता है कि प्रेम की उतनी सुन्दर उक्तियाँ महादेवी में नहीं पाई जातीं, जितनी जायसी में। वैसी हृदयग्राही सरलता महादेवी के काव्य में ढूंढ़ने से भी नहीं मिलेगी।

पद्मावती के रूप का आभास पाते ही रत्नसेन नागमती को छोड़कर आगे बढ़ जाता है और हीरामन की सहायता से अपनी प्रेमिका को प्राप्त करने में सफल होता है; अतः 'पद्मावत' में पद्मावती ईश्वर का प्रतीक है, रत्नसेन साधक का, नागमती संसार का, हीरामन तोता गुरू का। ग्रंथ के अंत में कवि ने इन प्रतीकों को स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है। ऊपर जिन प्रतीकों का उल्लेख हो चुका है उनके अतरिक्त भी ग्रंथ में अनेक प्रतीक बिखरे पड़े हैं। कथा के बीच-बीच में बहुत सी वस्तुएँ और घटनाएँ आध्यात्मिक तत्त्वों और परिस्थितियों का बोध बराबर करातीं चलती हैं।

यह लग सकता है कि जायसी ने किसी-किसी प्रतीक की व्याख्या ठीक से

नहीं की। इसी आधार पर कुछ समीक्षकों ने उनकी अन्योक्ति-पद्धति पर अनेक आपत्तियाँ की हैं। इन आपत्तियों में अधिक सार नहीं है। जायसी किसी को माया बतलायें या शैतान या दुनिया-धंधा या अप्सरा; पर व्यापक अर्थ मे ये सब वे बाधाएँ हैं जो साधक को साध्य से दूर रखने का प्रयत्न करती हैं। इनके अंतर्गत हम उस नागमती को भी ले सकते हैं जो तोते की हत्या कराना चाहती है, उस मा को भी जो रत्नसेन के जाने पर रोती है, उन सात समुद्रों को भी जिन्हें राजा पार करता है, उन पार्वती को भी जो रत्नसेन की परीक्षा लेती हैं, उस लक्ष्मी को भी जो उसकी प्रेमिका का रूप धारण कर सामने आती है, उस राघवचेतन को भी जो राजा से अप्रसन्न होने के कारण दिल्ली के बादशाह को चित्तौड़ पर आक्रमण करने के लिए उद्यत करता है और उस अलाउद्दीन को भी जो पद्मिनी को हस्तगत करना चाहता है। कहीं-कहीं अज्ञान, संज्ञाहीनता, अभिमान और लोभ भी व्यवधान बनकर आए हैं। इन सबका अर्थ पाठक का हृदय ठीक से समझता है और मूल आशय को ग्रहण करने में शायद ही उससे कहीं भूल होती हो।

सिंघल को जायसी ने हृदय बतलाया है, यह अर्थ तो ठीक है ही; पर सिंघल और दिल्ली दोनों परलोक के अर्थ में भी प्रयुक्त हुए हैं जहाँ कष्ट सहन करके ही कोई पथिक पहुँच पाता है। शरीर, समुद्र और दर्पण ऐसे प्रतीकों के रूप में ग्रहण किए गए हैं जहाँ उसका निवास है, जहाँ वह रत्न छिपा है, या जहाँ उस सुन्दर का प्रतिबिंब पड़ सकता है। ग्रंथ में आए आम्रराजी, मानसरोवर, सहस्रदलकमल, दीप और पिंजर भी विभिन्न अर्थों के द्योतक हैं। कुल मिलाकर जायसी में प्रतीकों की संख्या सीमित-सी है; पर प्रतीक महादेवी की कला का एक विशिष्ट अंग हैं। उनके सूक्ष्म और मधुर प्रतीक विधान की व्याख्या हम यथास्थान करेंगे।

इस प्रकार जायसी में आध्यात्मिक-चिंतन का एक रूप तो है यह अन्योक्ति-पद्धति। इसमें बीच-बीच में रहस्य-चिंतन के साथ पूर्ण कृति का ही एक सम्पूर्ण आशय है जिसका पता आख्यान की समाप्ति पर ही चलता है। वह आशय यह है कि जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण दो प्रेमियों का मिलन है। सूफी-साधना

के क्षेत्र में इस मिलन का अर्थ है आत्मा और परमात्मा का मिलन। इस मिलन-पथ पर बढ़ते ही साधक के मार्ग में असंख्य बाधाएँ खड़ी हो जाती हैं; पर वह गुरु की सहायता और अपनी लगन से इन सभी पर विजय करता है। 'पद्मावत' में इस अलौकिक प्रेम के महत्त्व की घोषणा बहुत स्पष्ट शब्दों में हुई है—

मानुष पेम भएउ बैकुंठी।
नाहिं त काह, छार भरि मूठी॥
पेम-पंथ जौं पहुँचै पारा।
बहुरि न मिलै आइ एहि छारा॥

जायसी निराकार के उपासक थे। इस दृष्टि से वे तुलसी, सूर, मीरा की कोटि में न आकर कबीर, पंत और महादेवी की परंपरा में आते हैं। 'स्तुति-खंड' में जिस ईश्वर की व्यापकता, महिमा और सृजनशीलता की चर्चा हुई है, वह निर्गुण-निराकार ही है। पद्मावती के रूप का वर्णन उसी के रूप का वर्णन है—

रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती।
रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहँ-जहँ विहँसि सुभावहिं हँसी।
तहँ-तहँ छिटकि जोति परगसी॥
दामिनि दमकि न सरवरि पूजी।
पुनि ओहि जोति और को दूजी॥

इसी प्रकार 'चित्तौरगढ़ वर्णन-खंड' में जहाँ अलाउद्दीन पद्मावती का प्रतिबिंब दर्पण में देखता है, वहाँ उस छवि के कारण धरती से लगाकर आकाश तक समस्त अवकाश स्वर्ण-वर्ण का हो जाता है—

विहँसि झरोखे आइ सरेखी।
निरखि साह दरपन में देखी॥
होतहि दरस परस भा लोना।
धरती सरग भएउ सब सोना॥

'सिंहलद्वीप खंड' में जायसी ने इस बात पर बल दिया है कि प्रेम में

साधना का बड़ा महत्व है। जिसकी साधना पूरी नहीं हुई, वह उस तक नहीं पहुँच सकता। बिना साधना के उसकी निकटता असंभव है—

चाँद सुरुज औ नखत तराईं।
तेहि डर अंतरिख फिरहिं सबाईं॥
पौन जाइ तहँ पहुँचै चहा।
मारा तैस लोटि भुइँ रहा॥
अगिनि उठी, जरि बुझी निआना।
धुँआँ उठा, उठि बीच बिलाना॥
पानि उठा, उठि जाइ न छूआ।
बहुरा रोइ, आइ भुइँ चूआ॥

विरह का वर्णन अनेक विवरणों और पूरी सूक्ष्मता के साथ जायसी ने किया है। सबसे बड़ी बात यह है कि इसका धरातल बड़ा व्यापक है। विरह-व्यथा की अनुभूति ग्रंथ के मुख्य पात्रों के हृदय में ही नहीं होती, वरन् सारी सृष्टि ही इसकी लपेट में आ गई है। सच पूछिए तो सूर्य, चंद्र, नक्षत्र इसी आग से जल रहे हैं। पर्वत के अंतर में यही आग तो है। पतंगा इसी आग में जलने को उद्यत है। पलाश के फूलों के हृदय में यही आग भर गई है। बादल इसी आग के धुएँ से काले पड़ गए हैं। देखिए—

अस परजरा बिरह कर गठा।
मेघ साम भए धूम जो उठा॥
दाढ़ा राहु, केतु गा दाधा।
सूरुज जरा, चाँद जरि आधा॥
औ' सब नखत तराईं जरहीं।
टूटहिं लूक, धरति महिं परहीं॥
जरै सो धरती ठाँवहिं ठाऊँ।
दहकि पलास जरै तेहि दाऊ॥
बिरह साँस तस निकसै झारा।
दहि-दहि परवत होहिं अंगारा॥

भँवर पतंग जरैं औ नागा।
कोइल, भुजइल, डोमा, कागा ॥

अनेक कष्ट झेलकर राजा प्रेमिका के देश पहुँचता है और ऐसी स्थिति खड़ी होती है कि पद्मिनी से उसकी भेंट हो सके। साक्षात्कार होता है; पर उस अनिंद्य रूप को देखकर राजा बेसुध हो जाता है। जब उसे सुधि आती है तब तक पद्मावती चंदन के अक्षरों में उसके हृदय पर प्रणय-जीवन का एक सत्य अंकित करके लौट जाती है—

तब चंदन आखर हिय लिखे।
भीख लेइ तुइ जोग न सिखे ॥
घरी आइ तब गा तू सोई ॥
कैसे भुगुति परापति होई ॥

इसी से मिलता-जुलता भाव महादेवी की 'नीरजा' में एक स्थल पर पाया जाता है—

मिलन-वेला में अलस तू
सो गई कुछ जागकर जब,
फिर गया कह स्वप्न में
मुसिकान अपनी आँककर तब;
आ रही प्रतिध्वनि वही फिर
स्वप्न का उपहार ले।
उर तिमिरमय, घर तिमिरमय
चल सजनि दीपक बार ले।

'पद्मावत' में विरह के प्रसंग जैसे मार्मिक हैं, मिलन के प्रसंग वैसे ही मधुर। विरह का वर्णन तो हिंदी के बहुत से कवियों ने सफलता से किया है; पर मिलन का स्वाभाविक वर्णन करने वाले कवि हमारे यहाँ कम ही पाए जाते हैं। प्रेम के विविध पक्षों की पूर्णता का चित्र जिससे पाठक की सभी भावनाओं की तुष्टि हो सके जैसा जायसी की पद्मावत में पाया जाता है, वैसा अन्यत्र पाना कठिन है। हिंदी का प्रेम-काव्य कहीं तो संयम के कड़े नियमों से

शासित है जैसे तुलसी में और कहीं अलंकरण से बोझिल जैसे बिहारी में। पर मनुष्य का आंतरिक जीवन विकास की जिन स्थितियों को पार करता है और बीच-बीच में मुग्धता, मादकता, आत्मलीनता और आनंद की जिन भावनाओं की अनुभूति उसे होती है वे केवल जायसी में ही पायी जाती हैं।

बाधाओं की भारी शिलाओं को ठेलकर रत्नसेन का पद्मावती से परिणय होता है और वह रात आती है जिसे सुहागरात कहते हैं। महल के सातवें खंड में जहाँ माणिक-मोती की शीतल ज्योति में कोमल कलियों की सेज सजाई गई है और राजा चातक के समान एक झलक की आशा में प्यासा-सा बैठा है, वहाँ पद्मिनी की चंचल सखियाँ विनोद के लिए चाँद जैसी अपनी सहेली को थोड़ी देर के लिए कहीं छिपा देती हैं और राजा को छेड़-छेड़कर अपनी नट-खटी का पूरा आनन्द उठाती हैं। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि मनुष्य का हृदय बड़े सुख और बड़े दुःख को सहसा नहीं सह पाता, इसी से उस प्रसंग की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अपनी उपयोगिता है। आध्यात्मिक पक्ष में यह अर्थ व्यंजित होता है कि उसके बिना संसार का सारा वैभव फीका है। जब प्रतीक्षा असह्य हो उठती है, तब रत्नसेन को जिस रूप के दर्शन होते हैं उसका वर्णन जायसी ने इस प्रकार किया है—

पदमिनि गवन हंस गए दूरी।
कुंजर लाज मेल सिर धूरी॥
बदन देखि घटि चंद छपाना।
दसन देखि कै बीजु लजाना॥
खंजन छपे देखि कै नैना।
कोकिल छपी सुनत मधु बैना॥
गीव देखि कै छपा मयूरु।
लंक देखि कै छपा सदूरु॥
भौहन्ह धनुक छपा आकारा।
बेनी बासुकि छपा पतारा॥

खड्ग छुरा नासिका बिसेखी।
अमृत छुरा अधर-रस देखी॥

और अंत में मिलन-प्रसंग से यह ध्वनि निकलती है कि प्राणी का सब कुछ—तन, मन, यौवन—उसके ही लिए है जिसे वह प्यार करता है। सूफी लोग संसार के सौंदर्य को ईश्वर के सौंदर्य का प्रतिबिम्ब मानते हैं; अतः उसके प्रति आकर्षण को हेय नहीं समझते। यह दृष्टिकोण उन वेदान्तवादियों से भिन्न कोटि का है जो संसार को स्वप्न समझकर इसे कोई महत्ता प्रदान नहीं करते, उल्टे इसके प्रति विरक्ति उत्पन्न करते रहते हैं। जीवन की आध्यात्मिक व्याख्या तो और रहस्यवादियों में भी पायी जाती है; पर अध्यात्म से जीवन के अटूट सम्बन्ध की अभिव्यक्ति सूफियों के काव्य में ही मिलती है। जीवन को अध्यात्म से पृथक तो अनेक स्थलों पर किया गया, पर लौकिक और अलौकिक जीवन का एकाकार सूफ़ी काव्य की ही विशेषता है। अध्यात्म के क्षेत्र में व्यापक जीवन को जो गरिमा सूफ़ियों से मिली, वह किसी से नहीं। सूफ़ियों का काव्य हमारे हृदय के तारों को इस प्रकार झनकारता है कि आध्यात्मिक मिलन-विरह के स्वर हमें लौकिक मिलन-विरह के स्वरों से कहीं भी भिन्न नहीं प्रतीत होते। हमारे लौकिक जीवन का एक गूढ़ आध्यात्मिक अर्थ है जिसे प्यार की भाषा ही स्पष्ट कर सकती है, जायसी के काव्य का सबसे बड़ा संदेश यही है।

कबीर का रहस्यवाद अधिकांश में हठयोग पर आधारित है। योग एक क्रियात्मक साधना है। यह दो प्रकार का होता है (१) हठयोग और (२) राजयोग। हठयोग के द्वारा साधक शरीर को अपने वश में करता है, राज-योग के द्वारा मन को। शरीर और मन पर अधिकार होते ही व्यक्ति वीतराग हो जाता है।

हमारे शरीर में जो मेरुदंड या रीढ़ की हड्डी है उसके भीतर से एक नाड़ी जाती है। उसका नाम है सुषुम्ना। सुषुम्ना की बाईं ओर की नाड़ी इड़ा और दाहिनी ओर की पिंगला कहलाती है। ये तीनों नाड़ियाँ त्रिकुटी पर (नासिका के ऊपर दोनों भौहों के बीच) मिलती हैं। इड़ा पिंगला इधर-उधर

हो जाती हैं, सुषुम्ना ऊपर की ओर तालुमध्य तक पहुँचती है। इड़ा का नाम वरुणा और पिंगला का असी भी है, इसी से जहाँ ये मिलती हैं उसे वाराणसी (काशी) भी कहते हैं। इड़ा और पिंगला क्रमशः गंगा यमुना भी कहलाती हैं।

सुषुम्ना में छह चक्र हैं—

(१)	मूलाधार	४ दल का	सुषुम्ना की जड़ में
(२)	स्वाधिष्ठान	६ दल का	उससे कुछ ऊपर
(३)	मणिपूर	१० दल का	नाभि में
(४)	अनाहत	१२ दल का	हृदय में
(५)	विशुद्ध	१६ दल का	कंठ में
(६)	अज्ञा	२ दल का	त्रिकुटी में

सुषुम्ना के मूल में कुंडलिनी रहती है। इसका आकार कुंडलिनी मारे सर्प जैसा होता है। सुषुम्ना के अंत में तालुमध्य में एक चक्र है जिसे सहस्रदलकमल कहते हैं। इसी में योगी अनहदनाद सुनते हैं। प्राणायाम की शक्ति से चक्रों को पार करती हुई कुंडलिनी जब यहाँ पहुँचती है, तब एक उज्ज्वल आलोक के दर्शन साधक को होते हैं। इसी को ब्रह्म के दर्शन कहते हैं। यहीं त्रिकोणाकार एक चंद्रमा है जिससे बहने वाले रस को सुधा कहते हैं। यह सुधा पसीने या मलमूत्र के मार्ग से बाहर निकल जाती है। मूलाधार चक्र में अवस्थित सूर्य द्वारा भी यह असावधानी के कारण सूख जाती है। साधुओं का कहना है कि जो इस सुधा को रोकना जानता है वह वृद्धावस्था को प्राप्त नहीं होता और जब तक चाहे जीवित रह सकता है। हठयोग के इन्हीं पारिभाषिक शब्दों के आधार पर एहि पार गंगा ओहि पार जमुना, बीच में मढ़ैया हमरी छवायै जैयो (त्रिकुटी में ध्यान लगाना) मंछी रूखा चढ़ि गई (कुंडलिनी का सुषुम्ना में प्रवेश करना) वंशी का बजना (अनहद नाद) रस गगन गुफा में अजर झरै (शून्य में स्थित चंद्रमा से सुधा बहना) काशी (त्रिकुटी) और सूर्य चंद्र का उगना आदि समझ में आ सकते हैं।

संतों के समान सूफ़ियों ने भी हठयोग को किसी अंश में स्वीकार किया

है। वास्तव में हिंदी में हठयोग की परंपरा बहुत पुरानी है और वह सिद्धों और नाथों तक पहुँचती है। कबीर और जायसी ने इसे परंपरा से ही पाया था। 'पद्मावत' में हठयोग की बातों का बिखरा उल्लेख कई स्थानों पर पाया जाता है। पर ईश्वर-प्राप्ति के लिए सूफ़ियों की अपनी अलग साधना-पद्धति है। साधना से लेकर सिद्धि तक उनके यहाँ साधक को चार अवस्थाओं के पार जाना पड़ता है। वे हैं—(१) शरीअत (कर्म) धर्म-ग्रंथों में वर्णित साधक के आचरण सम्बन्धी नियमों का पालन (२) तरीक़त (उपासना) अंतःकरण की पवित्रता और ध्यान (३) हक़ीकत (ज्ञान) तत्त्व का बोध और मारफ़त (सिद्धि) परमात्मा से एकाकार।

पर आज के रहस्यवादी इस प्रकार की किसी साम्प्रदायिक रूढ़ि में विश्वास नहीं करते। उन्होंने भावना के आधार पर ही परम तत्त्व का चिंतन किया है। यही कारण है कि जहाँ कबीर और जायसी का रहस्यवाद साधनात्मक कहलाता है, वहाँ प्रसाद, पंत निराला और महादेवी का भावनात्मक।

महादेवी की रहस्य भावना जायसी की अपेक्षा कबीर के अधिक निकट है। कबीर के समान उन्होंने प्रणय की अभिव्यक्ति के लिए प्रबंध की अपेक्षा मुक्तक को चुना है। कबीर और जायसी दोनों से पहला भेद तो उनका यह है कि जहाँ कबीर ने धर्मोपदेश दिए हैं, या जहाँ जायसी को कथा कहने की भी चिंता है, वहाँ महादेवी का एकमात्र विषय प्रेम है। उन्होंने काव्य के अन्य विषयों को छुए बिना सीधा आत्म-निवेदन किया है। अपने सीमित क्षेत्र में महादेवी की भावना का धरातल अत्यधिक व्यापक है। वे किसी सम्प्रदाय की अनुयायिनी नहीं हैं और न किसी मत का प्रचार करना चाहती हैं।

मायावाद को स्वीकार करने के कारण संसार के प्रति कबीर का दृष्टिकोण विरक्ति का है। उन्होंने खुले शब्दों में जगत के प्रति विरक्ति उत्पन्न की है। इसके विपरीत प्रतिबिंबवादी होने के कारण सूफ़ी इस सृष्टि को अनुराग की दृष्टि से देखते हैं। महादेवी का दृष्टिकोण सूफ़ियों की अपेक्षा संतों के अधिक निकट है। उन्होंने संसार को माया का देश बतलाया है। इसे वे क्षणिक और नाशवान घोषित करती हैं और ऐसा विश्वास रखती हैं कि यह एक यात्रा भूमि

है। कबीर भी सोचते थे कि आत्मा किसी अन्य लोक की निवासिनी है और संसार को परदेश मानकर ही उसे चलना चाहिए।

विरह के वर्णन तीनों कवियों के अपने-अपने ढंग से मर्म-स्पर्शी बन पड़े हैं; लेकिन मिलन की भावना में थोड़ा भेद है। जहाँ कबीर और जायसी दोनों में प्रारम्भ से ही मिलन की उत्कंठा बड़ी तीव्र है, वहाँ महादेवी बार-बार इसलिए जन्म चाहती हैं कि प्रणय-व्यापार चलता रहे। पहले दोनों कवियों का लक्ष्य अंतिम मिलन है; पर महादेवी की दृष्टि में प्यार का लक्ष्य प्यार ही है। यही कारण है कि संतों और सूफ़ियों के काव्य में जहाँ व्यक्तित्व की लीनता पर बल दिया गया है, वहाँ महादेवी ने उसकी स्वतंत्रता को बनाए रखना बहुत आवश्यक समझा है। फिर भी हमारा ऐसा विश्वास है कि प्रेम में यह पृथकता अंत तक चलती नहीं।

काव्य-ग्रंथ

यामा में महादेवी जी के चार काव्य-ग्रन्थों—नीहार, रश्मि, नीरजा और सांध्यगीत के एक सौ पचासी गीत संगृहीत हैं। 'अपनी बात' में महादेवी जी इस बात का निश्चय स्वयं नहीं कर पाईं कि ये याम दिन के हैं या रात के। गीति-ग्रन्थों के नामकरण के आधार पर ये याम दिन के ही कहलायेंगे। प्रभात में पहले नीहार छाता है, फिर रश्मि अवतीर्ण होती है, फिर नीरजा खिलती है। इसके उपरान्त दिवसावसान के समय सांध्य-गीत की बेला आती है। भाव दृष्टि से भी ये याम दिन के ही हैं। नीहार एक धुँधले विषादपूर्ण वातावरण की सृष्टि करता है। 'नीहार' ग्रन्थ में भी एक अज्ञात आराध्य की उपासना चलती है, अज्ञात लोक से आह्वान आते हैं, हृदय के भाव स्पष्टता से व्यक्त नहीं हो पाये हैं और साधना का मार्ग भी निश्चित नहीं हुआ है। कवयित्री का मानस विषाद और पीड़ा के वातावरण में पूर्ण-रूप से डूब सा गया है। रश्मि जैसे नीहार को चीर धुँधलेपन को दूरकर प्रकाश और प्रसन्नता फैलाती है उसी प्रकार रश्मि की रचनाओं में एक प्रकार का आह्लाद भरा हुआ है। हृदय के धुँधले भावों का प्रकटीकरण भी एक गति और रूप पकड़ता प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में प्रेमपात्र, प्रकृति और प्रेयसी के स्वरूपों के साथ जीवन, मृत्यु, मुक्ति और अमरता का मूल्यांकन भी स्पष्ट भाषा में है। वेदना की मधुरता का अनुभव भी इन्हीं गीतों में व्यक्त हुआ है। इस ग्रन्थ का अन्त भी एक आशा के वातावरण में हुआ है जिसका आभास रश्मि के प्रथम गीत से ही चलता है:—बनती प्रवाल का मृदुल कूल जो क्षितिज रेख थी कुहर म्लान। इस प्रकार रश्मि का वातावरण प्रकाश और प्रसन्नता का वातावरण है। नीरजा में प्रेम का जीवन थोड़ा आगे बढ़ गया है:—विरह का जलजात जीवन विरह का जलजात। नीहार की भाव-अस्पष्टता से मुक्त कर रश्मि ने जैसे प्रणय-नीरजा की पंखुरियाँ खोल दी हों। अश्रु-जल में इसका जन्म हुआ है। नीरजा में हृदय-कमल की ही प्रेम और प्रतीक्षा सम्बन्धी भाव-पँखुरियाँ

को खोला गया है। प्रभातकाल से सन्ध्या तक जैसे कमलिनी ताप सहती है उसी प्रकार नीरजा के गीतों में तीव्र स्नेह - ताप छाया हुआ है। काल की दीर्घता के अनुसार 'नीरजा' में गीतों की संख्या भी अन्य तीन काव्य-ग्रन्थों में प्रत्येक से अधिक है। नीहार से निकल, रश्मि के सम्पर्क में आ नीरजा, नीहार और रश्मि के पश्चात् ऐसी स्वाभाविक प्रतीत होती है मानों नीहार और रश्मि के पुल्लिंग-स्त्रीलिंग के योग से यह सुकुमारी उनकी छाप को अनायास अपने नाम तक में (नीहार की 'नी' और रश्मि के 'र' के योग से 'नी' 'र'-जा) लिये हुये हो ! इसी से एक प्रकार की अनिच्छित उपयुक्तता में नीरजा का सरोज, शतदल, सरसिज आदि कोई पर्याय नहीं चुना गया। साध्य-गीत की रचनायें इस उपासिका की उस स्थिति को व्यक्त करती हैं जब वह अपने पथ में एक ओर बहुत दूर बढ़ चुकी है और साधना के फल से बहुत दूर नहीं है। जीवन-सन्ध्या विश्राम की आशा दिलाती है। जैसे सन्ध्या में उसी प्रकार सांध्य-गीत के ताप में एक प्रकार की स्निग्ध शीतलता है। इन गीतों में से अनेक का पृष्ठभूमि संध्या का वातावरण है। साध्यगीत का प्रथम गीत 'प्रिय सांध्य गगन मेरा जीवन' रूपक के सहारे इन गीतों के रचना-काल की मानसिक स्थिति और आध्यात्मिक विकास को व्यक्त करता है और उसका अन्तिम गीत 'तिमिर में वे पद-चिन्ह मिले' उस सान्त्वना की अभिव्यक्ति है जो साधक की सतत साधना के उपरान्त स्वतः प्राप्त होती है।

ये याम दिन के ही हैं इस तथ्य की पुष्टि इस बात से और भी होती है कि सांध्यगीत के उपरान्त उनकी विरह-व्यथा 'दीपशिखा' के रूप में प्रकट हुई है।

दीपशिखा में सबसे अधिक रचनायें दीपक पर हैं जिनमें दीप को आत्मा का प्रतीक मानकर उस समय तक निष्कंप निष्काम भाव से विरह में जलने के लिये प्रोत्साहित किया गया है जब तक प्रभात-बेला (साध्य की आभा) न दिखाई पड़े। दीपक की गाथा स्नेही के प्राणों की गाथा है। दीपक जैसे-जैसे जलता है, उसका प्रेमपात्र प्रभात वैसे ही वैसे निकट आता है; इसी प्रकार प्राण जैसे-जैसे घुलते हैं, प्रेमास्पद वैसे ही वैसे हमारे निकट आता है। महादेवी जी की रचनाओं में आत्मा के लिए और जितने प्रतीक स्वीकार किये गये हैं उनमें दीपक ही सबसे

अधिक उपयुक्तता का श्रेयभागी है। वहाँ रात विरह-निशा के लिए, अन्धकार प्रणय-पीड़ा के लिए, शलभ संसार के लिए, लौ सुधि के लिए, झंझा साधना के विघ्नों और मृत्यु के लिए, तेल आंतरिक स्नेह के लिए, प्रकाश धुँधले पथ को प्रकाशित करने के लिए और प्रभात मिलन-बेला के लिये प्रयुक्त हुए हैं।

दिन के चार यामों की प्रणय-गाथा कहने के लिए जहाँ चार विभिन्न काव्यों का प्रणयन हुआ वहाँ रात के चार याम अकेली दीपशिखा के सहारे कट गये।

रात के इन चार यामों में कवयित्री रुक-रुककर आगे बढ़ी है। दीपशिखा में ५१ गीत हैं। इनमें आप पायेंगे कि यदि बिल्कुल नाप-जोख के साथ नहीं, तो कुछ आगे पीछे उन्होंने इन यामों का विभाजन कर लिया है। पहिले, बारहवें, उन्तीसवें, छत्तीसवें, बयालीसवें और पचासवें गीत की प्रथम पंक्तियाँ पढ़िये—

(१) दीप मेरे जल अकंपित घुल अचञ्चल।
(२) जब यह दीप थके तब आना।
(३) मैं क्यों पूछूँ यह विरह-निशा
कितनी बीती क्या शेष रही ?
(४) शेषयामा यामिनी मेरा निकट निर्वाण !
पागल रे शलभ अनजान !
(५) पूछता क्यों शेष कितनी रात ?
(६) सजल है कितना सवेरा ?

पहिली रचना में उस उत्साह के दर्शन होते हैं जिसकी अनुभूति यात्रा के प्रारम्भ में सभी उत्साही यात्रियों को होती है। दूसरे गीत पर एक याम समाप्त हो चुका है। थोड़ी दूर चलने पर जब कोई प्रश्न करता है 'थक तो नहीं गये ?' तब चरण चाहे थोड़ा विश्राम चाहते हों, पर उत्तर यही मिलता है, 'नहीं तो, जब थक जायेंगे तब देखा जायगा।' यही दशा दूसरे गीत की है। तीसरी रचना पर दूसरा याम समाप्त होता है। आधी यात्रा पूरी हो चुकी है, शेष आधी

भी पूरी करनी है। पीछे लौटना नहीं है। मुख्य बात गति है, दूरी नहीं। इसी से कहा :—

मैं क्यों पूछूँ यह विरह-निशा कितनी बीती क्या शेष रही?

चौथी रचना पर तीसरा याम समाप्त होता है और अन्तिम प्रहर प्रारम्भ इसे तो साधिका ने ही स्पष्ट कर दिया है—

शेषयामा यामिनी मेरा निकट निर्वाण!

छठी कविता में प्रभात के दर्शन होते हैं। इस पंक्ति से वह आह्लाद बिना कहे बरस रहा है जो यात्रा के अन्त में मुख पर छा जाता और अन्तर में भर जाता है। ठीक इसी प्रकार की प्रसन्न स्थिति में सात समुद्रों को पारकर एक प्रभात में पद्मावत का रत्नसेन भी 'मानसर' में पहुँचा था :—

गा अँधियार, रैनि-मसि छूटी, भा भिनसार किरन-रवि फूटी।

और जैसे वहाँ निकट स्थित 'सिंहल-द्वीप' को देखकर

'अस्ति-अस्ति' सब साथी बोले

उसी प्रकार व्यथा की सारी निशा को काटकर महादेवी के अंतर्नयन देखते हैं—

सजल है कितना सवेरा!

बीच में एक रचना और है। सच बात तो यह है कि जब गंतव्य स्थान बिल्कुल ही निकट होता है तब एक प्रकार की उत्सुक अधीरता प्राणों को आ घेरती है। उर्दूवालों की 'टूटी कहाँ कमंद' आपने सुनी होगी और बिहारी का नायक तो सारा पथ नाप आया और घर की देहली लाँघने में साहस तोड़ बैठा। बिल्कुल निकट आकर निकटता के लिये प्राण सारी शक्ति से ललक उठते हैं। यहाँ साधिका का प्राण-दीपक भी उसी अधीरता का अनुभव करता है, पर उसके पीछे जो व्यक्तित्व गति को परिचालित कर रहा है वह बहुत दृढ़ है—झंझा और प्रलय में भी न विचलित होने वाला। इसी से साहस भरा यह स्वर उसे पीछे से सावधान करता है—

पूछता क्यों शेष कितनी रात?

इस क्रम—नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत, दीपशिखा, को दृष्टि में रख-कर आशा की जाती है कि इसके उपरान्त महादेवी जी की जो रचना प्रकाशित होगी वह किसी दार्शनिक अथवा प्रसन्न प्रतीक के आधार पर नामांकित होगी।*

* अब तक महादेवी जी के निम्नलिखित काव्य-ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं:

१. नीहार	(१६२४-१६२८)
२. रश्मि	(१६२८-१६३१)
३. नीरजा	(१६३१-१६३४)
४. सांध्यगीत	(१६३४-१६३६)
५. दीपशिखा	(१६३६-१६४२)

साध्य : परम तत्व

देहाभिमानी जिसकी अवहेलना करते आए उस ब्रह्म-तत्व को हमारे पूर्वजों ने सहस्रों वर्षों की तपस्या और निरन्तर चिन्तन के उपरान्त उपलब्ध किया था। तत्वदर्शी ऋषियों के समान इस विराट्, इस विश्वदेव, इस अनन्त रमणीय की ओर कबीर, टैगोर जैसे महान् कवियों की भावमयी दृष्टि बराबर उठती रही। आधुनिक काल के रहस्यवादियों में 'पन्त' केवल उत्सुकतावादी ही रहे, 'प्रसाद' ने रहस्यवाद के क्षेत्र में प्रकृति के सहारे थोड़ा प्रेम-व्यापार भी चित्रित किया; पर भावों का सुसज्जित अनन्त भण्डार महादेवी जी के काव्य में ही दिखाई दिया। अतः देखना चाहिए कि उन्होंने इस अनन्त रमणीय को कैसा रूप दिया है।

रहस्यवाद ब्रह्म के प्रति आत्म-निवेदन है। वैदान्तिक-प्रकिया को समझाने के लिए अद्वैतवादी ब्रह्म के तीन स्वरूपों का वर्णन करते हैं—(१) निर्गुण निराकार (२) सगुण निराकार (३) सगुण साकार (अर्वाचीन)। निर्गुण निराकार शुद्ध चेतन है, एकदम निष्क्रिय। सगुण निराकार (चेतन-माया) जिसका दूसरा नाम ईश्वर है, संकल्पों का आधार होता है। यह माया-विशिष्ट ब्रह्म ही कारण-ब्रह्म है। यही जगत का कारण है, सृष्टिकर्त्ता है। सगुण साकार में ब्रह्मा, विष्णु, महेश के अवतार आते हैं। ये भेद समझाने के लिए ही हैं। तुलसी के अनुसार ज्ञान को समझाने के लिए पहिले अज्ञान की चर्चा करनी पड़ती है। ज्ञानी पहिले सृष्टि का वर्णन करते हैं केवल उसका मिथ्यात्व निरूपित करने के लिए। फिर 'सगुण साकार' की उपाधियों को दूर करते हुए 'सगुण निराकार' की माया उपाधि को भ्रममात्र सिद्ध करते हैं। इस प्रकार ब्रह्म-ज्ञान की—स्व-रूप की—उपलब्धि होती है। रहस्यवादियों का भी अंतिम लक्ष्य 'निर्गुण निराकार' की स्थिति की अनुभूति है। एक दिन साधक—चाहे वह महादेवी जी की भाँति भाव का साधक हो—इस तथ्य पर पहुँचता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ, प्रेमिका और प्रियतम दो नहीं। पर इस तथ्य तक पहुँचने में दिन

लगते हैं; अतः रहस्यवादी पहिले मायापति ब्रह्म का वर्णन करता है, 'सगुण निराकार' को लेकर चलता-सा प्रतीत होता है। ऐसा न करे तो भावना के लिए भूमि न मिले, प्रियतम या प्रियतमा का रूप-वर्णन असम्भव हो जाय, प्रेम की रंगीन कल्पनाओं के लिए अवकाश न रहे। क्योंकि डूब जाने, अस्तित्व लीन करने के आनन्द का अनुभव सहसा प्राप्त नहीं हो जाता, इसलिए पहिले प्रेमी प्रेमिका के पृथक अस्तित्व के ही आनन्द को यथेष्ट समझा जाता है। उस ममत्व से भरी, साथ ही तथ्य की जानकार, महादेवी जी कहती हैं—

मिलन-मन्दिर में उठा दूँ जो सुमुख से सजल गुंठन।
मैं मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिकता में सलिल कण॥

सजनि मधुर निजत्व दे
कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं!
वह रहे आराध्य चिन्मय
मृण्मयी अनुरागिनी मैं।

महादेवी का प्रिय हुआ ब्रह्म। यह ब्रह्म सृष्टि का कर्त्ता है। इस विषय में भी उन्होंने अद्वैतवादियों का अनुसरण किया है। अद्वैतवादियों की दृष्टि से ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। प्रतीति भ्रम है। इस 'कुछ नहीं' का तात्पर्य है भासमान होते हुए भी न होना—जैसे हिरन को मरीचिका में जल का आभास दूर से होता है, आगे बढ़ने पर जल नहीं दिखाई देता। दूर या स्थूल दृष्टि से सृष्टि का भी आभास होता है, पर है यह मृगमरीचिका के समान। वास्तव में है ही नहीं। जैसे मृगमरीचिका को मिथ्या समझते हुए भी समझाने के लिए हम उसके स्वरूप का वर्णन करते हैं, उसी प्रकार सृष्टि का वर्णन भी सृष्टि के सत्य होने का प्रमाण नहीं है। हम स्वप्न का भी वर्णन करते हैं, पर वे हमारी कल्पना से ही प्रसूत होते और हमारे अन्दर ही उनकी सृष्टि विलीन हो जाती है। हमसे भिन्न उसकी सत्ता नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म से भिन्न सृष्टि की सत्ता नहीं है। उन्हीं में यह खेलती-सी है।

स्वरलहरी में मधुर स्वप्न की
तुम निद्रा के तार,

जिसमें होता इस जीवन का
उपक्रम उपसंहार,
इंद्रधनुष के रंगों से भर
धुँधले चित्र अपार,
देती रहती चिर रहस्यमय
भावों को आकार;
जब अपना संगीत सुलाते
थक वीणा के तार,
घुल जाता उसका प्रभात के
कुहरे का संसार !

विभिन्नता में एकता स्थापित करने के लिए अद्वैतवादी कनक-कुण्डल या मिट्टी और उनमे बने पात्रों का उदाहरण देते हैं। कहते हैं विभिन्न वस्तुओं में जो भेद प्रतीत होता है वह बाह्य और नाम रूप का है। इसे हटाकर देखो तो भेद-बुद्धि दूर हो जाय। जैसे एक ही मिट्टी से घड़ा, नाँद, प्याली, सुराही आदि बनते हैं पर स्थूल दृष्टि को हटाकर देखा जाय तो ये सब मिट्टी के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। कुम्हार ने मिट्टी को एक विशेष आकार दे दिया, उसे हम घड़ा कहने लगे। उससे भिन्न एक और रूप दे दिया, उसे हम सुराही या और कुछ कहने लगे। इससे किसी वस्तु की रचना में दो कारण सामने आए—

१. निमित्त कारण (कर्त्ता) जैसे कुम्हार।
२. उपादान कारण (सामग्री) जैसे मिट्टी।

शङ्का करने वाले कहते हैं मिट्टी के बर्तन मिट्टी से भिन्न न सही, पर अभी बनाने वाला कुम्हार (ब्रह्म) तो मिट्टी (संसार) से भिन्न प्रतीत होता है। क्या आपके पास कोई ऐसा उदाहरण है जिसमें 'निमित्त कारण' और 'उपादान कारण' एक हो जायँ। अद्वैतवादी कहते हैं मकड़ी को देखो। वह जाले की सृष्टि के लिए बाह्यसामग्री की अपेक्षा नहीं रखती। वह अपने अंतर से ही उसे निकालती और अपने अंतर में ही उसे लीन कर लेती है। महादेवी ने

उपनिषद् के इस उदाहरण का उपयोग किया है। त्रिगुणात्मक सृष्टि के विषय में वे कहती हैं—

स्वर्णलता सी कब सुकुमार
हुई उसमें इच्छा साकार ?
उगल जिसने तिनरङ्गे तार
बुन लिया अपना ही संसार !

—रश्मि

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ।
मुण्डक १ । १ । ७ ।

यह ब्रह्म निर्विकार होते हुए भी समस्त विकारों की क्रीड़ा-भूमि है वैसे ही जैसे निर्विकार आकाश के वक्ष पर असंख्य उडुगण जलते, कनक और नीलम के यान बना निशि-वासर दौड़ते, विशाल बादल पिघलते, बिजली की ज्वाला जलती और घन-गर्जन होता, पर उसमें एक कम्पन भी तो नहीं उठती। उन्होंने यह भी माना है कि वह 'काल-सीमा-हीन' (देश काल से अपरिच्छिन्न) है और सूनेपन के भान से उसने विश्व-प्रतिमा का निर्माण किया। इसे 'एकोऽहं बहुस्याम्' वाली बात समझिये।

पर रहस्यवाद ज्ञान के पट पर भाव का रंगीन चित्र है; अतः कवि अपनी भावना के आधार पर कल्पनाएँ करता है। कवयित्री ने ब्रह्म से सृष्टि की रचना अपने भावानुकूल भी बतलाई है। ब्रह्म ने प्रेमिका को जब 'जीवन-बीन' दी तब प्रेमिका ने उन्हें 'प्रेम-शतदल' भेंट दिया। उससे देखिए सृष्टि के तत्त्वों का कैसे विकास हुआ—

होगया मधु से 'सिंधु' अगाध
रेणु से 'वसुधा' का अवतार,
हुआ सौरभ से 'नभ' वपुमान
और कम्पन से वही। 'बयार'।

वैसे ढूंढ़ने बैठें तो उनकी रचनाओं में (१) सृष्टि (२) स्थिति (३) प्रलय-

(४) संयमन (५) प्रवेश—ईश्वर के सभी कार्यों के उदाहरण बिना प्रयत्न के आ गये हैं, जैसे—

(१) हुआ त्यों सूनेपन का भान
प्रथम किसके उर में अम्लान
और किस शिल्पी ने अनजान
विश्व-प्रतिमा कर दी निर्माण !

(२) आलोक-तिमिर सित असित-चीर
सागर गर्जन रुन झुन मँजीर
रवि शशि तेरे अवतंस लोल
सीमन्त-जटित तारक अमोल ।

(३) काल के प्याले में अभिनव,
ढाल जीवन का मधु आसव,
नाश के हिम अधरों से मौन
लगा देता है आकर कौन ?

(४) अग जग उनका, कण कण उनका ।

(५) विविध रंगों के मुकुर सँवार,
जड़ा जिसने यह कारागार,
बना क्या बंदी वही अपार,
अखिल प्रतिबिंबों का आधार ?

सृष्टि की रचना होते ही इस प्रेम के खेल को खेलने वाले तीन खिलाड़ी हुये (१) परमात्मा (२) आत्मा (३) प्रकृति । परमात्मा हुआ पुरुष के रूप में प्रेमी और प्रकृति तथा आत्मा हुईं नारी के रूप में प्रेमिकाएँ । महादेवी जी ने प्रकृति का और अपना ऐसा मिला-जुला वर्णन किया है कि दो का भान ही नहीं होता । प्रेमियों का एक जोड़ा ही दृष्टिगत होता है । प्रकृति के भावों का विश्लेषण करने वाली भी महादेवी ही हैं; अतः उन्हीं को मुख्य या केवल प्रेमिका समझिए । जहाँ-जहाँ जड़ प्रकृति में महादेवी ने हृदय खोजा है वहाँ अपनी प्रेमभावना की पुष्टि के लिए । प्रकृति प्रेम में प्रतिद्वन्द्विनी नहीं है ।

तीनों का सम्बन्ध उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है—

यह जग क्या ? लघु मेरा दर्पण;
प्रिय तुम क्या ? चिर मेरे जीवन।

चेतन ब्रह्म का अपना कोई स्थूल रूप नहीं है। अतः उनके रूप का निर्माण या संबंध की भावना साधक की वृत्ति ही करती है। कुछ रहस्यवादियों में यह भावना निर्दिष्ट नहीं होती जैसे कबीर में। वे परमात्मा को कहीं माता के रूप में देखते हैं, कहीं पिता के रूप में। पर उनका विशेष झुकाव उन्हें पति रूप में, पुरुष रूप में देखने का है—

बाल्हा आव हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे !

जायसी जैसे सूफी कवि परमात्मा को स्पष्टतया नारी रूप में देखते हैं—

जहँ जहँ विहँसि सुभावहिं हँसी,
तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी।

पर सूफियों के साथ भी यह सिद्धांत-वाक्य नहीं। पात्र के अनुरूप जायसी में भी परमात्मा का रूप बदलता प्रतीत होगा जैसे जब पद्मावती प्रिय का चिंतन करती है, तो उसे व्यापक रूप देने पर परमात्मा पुरुष प्रतीत होगा—

पिय हिरदय मँह भेंट न होई।

आधुनिक कवियों में पंत जी इस क्षेत्र में थोड़ी ही दूर चले; पर अपनी दृष्टि वे भी एक रूप पर न जमा सके। वे कहीं प्रकृति को प्रतीक्षा करते देखते हैं तो उन्हें—

'सौरभ समीर रह जाता प्रेयसि ठंडी साँसें भर'

में नारी रूप से देखते हैं और कहीं स्वयं बाला बनकर—

'न जाने नक्षत्रों से कौन, निमन्त्रण देता मुझको मौन'

पर आश्चर्य प्रकट करते हैं। 'प्रसाद' जी की आदत तो और भी विलक्षण है। उनकी दृष्टि तो नारी पर रहती है, पर संबोधन करते हैं उसे पुल्लिंग में—

शशिमुख पर घूँघट डाले अन्तर में दीप छिपाए
जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आए।

यह घूँघट 'तुम आई' पर पड़ता तो अच्छा लगता। कामायनी का आराध्य 'पुरुष पुरातन' है और आँसू की आराध्या—यदि उसे रहस्यवाद की कृति मानें तो—एक नारी मूर्ति। पर महादेवी की भावना सभी कहीं निर्दिष्ट है। उन्होंने ब्रह्म को प्रियतम के रूप में ही देखा है—

(अ) मैं मतवाली इधर, उधर प्रिय मेरा अलबेला-सा है।

(आ) सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी !
प्रिय के अनंत अनुराग भरी !

यह 'अलबेला' अनन्त महिमामय एवं अनन्त करुणामय होने के साथ अनन्त सुषमामय है। वह परम सुन्दर, चिर सुन्दर है। सृष्टि की सुन्दरता उसकी सुन्दरता की छायामात्र है। नक्षत्रों की मधुरिमा, सूर्य की कनक-रश्मियों की उज्ज्वलता एवं विधु की रजत-ज्योत्स्ना की शुभ्रता उसकी आभा के एक कण की भी समता नहीं कर सकती। प्रारम्भ में ही महादेवी जी ने ज्योत्स्ना-स्नात वासंती निशा में उनकी चितवन और स्मित से प्रभावित होने और प्रेम की अगाध असीम पीड़ा में डूबने की चर्चा की है। इस स्मित चितवन की स्मृति जगह-जगह जग पड़ी है। महादेवी ने उनके चरणों की कोमलता, उनके मन्द चाप एवं उनके मृदु उज्ज्वल चिह्नों का बार-बार पूरी तन्मयता से वर्णन किया है। उनके चरणों पर देवता अपने अमरलोक को न्यौछावर करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं। उन चरणों के नख-चंद्रों के सामने नक्षत्रों का आलोक फीका पड़ जाता है। उन सुन्दर चरणों की छवि को आकाश अपने अंतस्तल में अंकित करता है !

महादेवी जी का हृदय इसी सुन्दर के लिए व्याकुल है। प्रकृति में इसी के रूप की छाया वे देखती हैं। इसी की प्रतीक्षा करती हैं। इसी को प्रिय और निष्ठुर कहती हैं। इसी को मृदु-उपालम्भ देती हैं। इसी की मनुहार करती हैं। इसी के लिए उनका हृदय घुल-घुल कर बहा है। इसी के लिए रात-दिन रोती रहती हैं !

महादेवी के साध्य की एक विशेषता जिसे हम प्रेम का प्राण कह सकते हैं यह है कि वह प्रेमपात्र ही नहीं, प्रेममय भी है। [illegible] भी है। वह

प्रेमलीला का साक्षी ही नहीं, अभिनेता भी है। वह आकर्षित होना भी जानता है। जिस प्रकार आत्मा परमात्मा के प्रेम में विह्वल रहती है, उसी प्रकार परमात्मा भी आत्मा के लिए आकुल। रात्रि में सुरभि बन कर वह थपकियाँ देता और प्रभातकाल में वही स्वप्न शाला में यवनिका डालकर अपने कोमल करों से प्रेमिका के दृगों को खोलता है। इसी प्रकार झंझा की ध्वनि में उसका मौन-निमंत्रण मिलता तथा संध्या उस ओर से दूती के समान मनुहार करती प्रतीत होती है।

१. आज किसी के मसले तारों
   की वह दूरागत झंकार,
   मुझे बुलाती है सहमी-सी
   झंझा के परदों के पार।

२. नव इन्द्रधनुष सा चीर
   महावर अंजन ले
   अलि गुञ्जित मीलित पंकज—
   नूपुर रुन झुन ले
   फिर आई मनाने साँझ
   मैं बेसुध मानी नहीं।

महादेवी जी की रहस्यभावना में प्रेम का यह खेल इसलिये संभव हुआ कि आत्मा परमात्मा से पृथक होने पर भी भाव-सूत्र से बँधी रही। अतः साध्य के साथ उन्होंने अपनी अथवा आत्मा की सम्बन्धाभिव्यक्ति इन सरणियों से की है—

(१) आत्मा परमात्मा के गुणों का प्रतिनिधित्व करने वाली उसका अंश है जैसे लहर और समुद्र अथवा किरण और चांदनी।

(२) वह पृथक होकर पृथ्वी पर आती है।

(३) वह पृथ्वी के सुखों का उपभोग करती और सुख-सौन्दर्य की सृष्टि करती है।

(४) परमात्मा भी उधर प्रणयिनी आत्मा के लिए विह्वलता का अनुभव करता है।

(५) परमात्मा के इङ्गित या आह्वान पर आत्मा सृष्टि के खेल को अधूरा छोड़ उसमें लीन हो जाती है।

इस विचार-पद्धति का मार्मिक काव्य-रूप देखिए :—

—मैं और तू—

तुम अनंत जलराशि उर्म्मि मैं
चंचल सी अवदात,
अनिल-निपीड़ित जा गिरती जो
कूलों पर अज्ञात;
हिम शीतल अधरों से छूकर
तप्त कणों की प्यास,
बिखराती मंजुल मोती से
बुद्-बुद् में उल्लास;
देख तुम्हें निस्तब्ध निशा में
करते अनुसंधान,
श्रांत तुम्हीं में सो जाते जा
जिसके बालक प्राण !
मैं तुमसे हूँ एक, एक हैं
जैसे रश्मि प्रकाश;
मैं तुमसे हूँ भिन्न, भिन्न ज्यों
घन से तड़ित्-विलास !
मुझे बाँधने आते हो लघु
सीमा में चुपचाप
कर पाओगे भिन्न कभी क्या
ज्वाला से उत्ताप ?

साधिका : आत्म-तत्त्व

ऐसे प्राणियों के अतिरिक्त जिनका काम उठना-बैठना, खाना-पीना, सोना और मर जाना है, सृष्टि में ऐसे भी व्यक्ति हैं जो कभी-कभी चिंतन भी करते हैं। आधुनिक-काल की कार्य-व्यग्रता ने चाहे हमारे चिंतन के क्षणों को छीन लिया हो; पर भीतर से बराबर प्रश्न उठते रहते हैं। प्राणी कब तक निर्दयता से उन प्रश्नों का कण्ठ-रोध करेगा ? उनकी वाणी को, चाहे वह कितनी ही क्षीण क्यों न हो, वह कब तक न सुनेगा ? मैं क्या हूँ ? सृष्टि क्या है ? सृष्टि को रचने वाला कौन है ? जिसने अभी 'मैं' कहा वह कहाँ से आया ? प्रकृति कहाँ से आई ? मानव में जड़ और चेतन का मेल कब हुआ ? कैसे हुआ ? यह सारी उलझन इन्द्रजाल तो नहीं है ? प्राणी की यह कैसी विवशता है कि न उसे अतीत की सुधि है, न भविष्य का ज्ञान ? बुद्धि उस देश को जिसमें मानव घिरा है और उस काल को जिसमें उसका विकास हुआ बतलाते हैं चीरती हुई क्या वहाँ पहुँच सकती है जहाँ वह अपने शुद्ध रूप में था ? इन कौतूहलों का विश्लेषण रहस्यवादी करता है। वह जिस प्रकार अपने बनाने वाले के विषय में जिज्ञासा-भावना से पूर्ण होता है उसी प्रकार अपने विषय में भी। जीवन सम्बन्धी महादेवी जी के ये प्रश्न अत्यन्त सरल होते हुए उत्तर देने की दृष्टि से कितने जटिल हैं ?—

जीवन-दीप

किन उपकरणों का दीपक ?
किसका जलता है तेल ?
किसकी वर्त्ति ? कौन करता
इसका ज्वाला से मेल ?
    शून्य काल के पुलिनों पर
    आकर चुपके से मौन,

इसे बहा जाता लहरों में
वह रहस्यमय कौन ?
कुहरे-सा धुँधला भविष्य है
है अतीत तम घोर,
कौन बता देगा जाता यह
किस असीम की ओर ?
पावस की निशि में जुगनू का
ज्यों आलोक — प्रसार,
इस आभा में लगता तम का
और गहन विस्तार ?
इन उत्ताल तरंगों पर सह
झंझा के आघात,
जलना ही रहस्य है, बुझना
है नैसर्गिक बात ?

पर संस्कृत हृदय की जिज्ञासा-भावना विफल नहीं होती। प्राणी की चेतना नित्य-चेतन के लिए पुकार मचाती ही रहती है। कभी-कभी 'कहीं से आई हूँ' जैसी स्मृति खटकती है। इतनी-सी बात समस्त रहस्योद्घाटन की जननी बनती है। आत्मा के दिव्य सम्बन्ध का मन में रक्षित संस्कार विस्मृति के पटलों को धीरे-धीरे हटाता हुआ बुद्धि को वहाँ ले जाता है जहाँ अपनी पूर्णता में कोई 'काल-सीमा-हीन' निष्क्रिय था। एक दिन उसके हृदय में भी अभाव की भावना जागरित हुई और उसने मिट्टी का एक पुतला बनाकर वेदना से निर्मित प्राणों का उसमें संचार किया—

काल-सीमा हीन सूने में रहस्यनिधान।
मूर्तिमत् कर वेदना तुमने गढ़े जो प्राण,
धूलि के कण में उन्हें बन्दी बना अभिराम
पूछते हो अब अपरिचित से उन्हीं का नाम !

जब महादेवी जी 'मैं' कहती हैं तब उसके दो अर्थ होते हैं। कहीं तो केवल

आत्मा के लिए इस शब्द का प्रयोग वे करती है; पर अधिकतर 'मैं' से उनका तात्पर्य प्राणी से रहता है जिसके जड़ शरीर में चेतन बद्ध है। जहाँ जन्म-जन्मान्तर के उपरान्त भी हृदय में बराबर प्रेम बने रहने या 'अमर सुहागिन' की बात उठायी जाती है वहाँ आत्मा पर दृष्टि रहती है और जहाँ मिटने की, सुख-दुःख की, मधु-विष की वहाँ प्राणी पर।

महादेवी जी के गीतों को पढ़ते समय एक धोखा बार-बार होगा। अतः उसे स्पष्टता से समझ लेना चाहिए। वह धोखा है अद्वैत में द्वैत का। साधारण दृष्टि से उनकी रचनाओं में साध्य पृथक, साधिका पृथक प्रतीत होंगे। साधना की दृष्टि से यही स्वाभाविक है। प्रारम्भ में ऐसा ही भान होता है। सामान्य अनुभव सबका ऐसा ही है। कर्म, उपासना, ज्ञान हमारे यहाँ का यही क्रम रहा है। सात्त्विक कर्मों द्वारा मनुष्य अपने अन्तःकरण को शुद्ध करता है। उपासना द्वारा भगवान में अनुरक्त होता है। फिर एक दिन इस निर्णय पर पहुँचता है कि जिसकी मैं उपासना कर रहा हूँ वह मुझसे भिन्न नहीं है। महादेवी जी के शब्दों में उपासक और उपास्य की अभिन्नता के लिए इतना कहना यथेष्ट होगा—उपासक ही होगा आराध्य। हम कह चुके हैं कि महादेवी जी भाव-योग में लीन हैं; अतः कर्म की चर्चा के लिए तो उनके काव्य में स्थान नहीं है। अब रहे उपासना और ज्ञान। इस समय ज्ञान की भूमि पर महादेवी जी की उपासना चल रही है। रहस्यवाद ज्ञान और भाव का ग्रन्थिबंधन ही तो है। पाठक के हृदय में संशय उत्पन्न करने वाली जिस बात का उल्लेख ऊपर हुआ है वह यह है कि माधुर्यभाव की इस उपासिका की रचनाओं में अपने को स्थान-स्थान पर परमात्मा का अंश कहा गया है। महादेवी जी अद्वैतवाद में एक प्रकार से बहुत गहरी डूबी हुई हैं। अतः अंशांशी भाव की चर्चा होते ही उनमें विशिष्टाद्वैत का भ्रम हो सकता है। शब्दों पर ध्यान न देकर हमें कवि की भावधारा के मूल में पैठी और उसे परिचालित करने वाली वृत्ति को परखना चाहिए। इस तत्त्व को न परख कर केवल शब्दों को—शब्दों को भी पूर्णरूप से नहीं—पकड़ कर कोई-कोई विद्यापति में रहस्यवाद ढूँढ़ते हैं और जब बात पूरी नहीं बैठती तो अपने नवीन नियम गढ़ते हैं; और

दूसरी ओर कुछ लोग तुलसी को अद्वैतवादी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। महादेवी में अंशांशी भाव तो है; पर सबके मूल में अद्वैतवाद झलक रहा है। वे यह मानती हैं कि सृष्टि की रचना हुई, एक से बहु हुए। यह भी मानती हैं कि वह महान् है, अतः उपास्य या प्रियतम है। पर उस निठुर से प्रश्न करते समय इन बातों से आगे बढ़ कर यह भी जानती हैं कि उसकी खोज अपनी ही खोज है :—

> निठुर क्यों फैला दिया यह उलझनों का जाल,
> आप अपने को जहाँ सब ढूँढ़ते बेहाल?

सीमा के बन्धनों को स्वीकार करके उसके नियमों से शासित होना पड़ता ही है। प्राणी द्वन्द्वों का विहार-स्थल है। जग और ब्रह्म उसके दो कोने हैं। जग की जड़ता और ब्रह्म की चेतनता दोनों का वह प्रतिनिधि है। उसका शरीर जड़ जगत का अंश है, आत्मा चेतन का। परमात्मा आनन्द-स्वरूप है, जग दुःख-रूप। जगत के विष और चेतन के अमृत दोनों का वह भागी है। वह सुख-दुःख, करुण-मधुर का प्रतीक है। इसी बात को लेकर महादेवी जी ने 'मैं पहेली हूँ' 'मेरी बात पहेली है' ऐसी बातें कही हैं। पर यह तथ्य कम-से-कम भारतीय विचारकों के नित्य-परिचय का है।

जीव को ब्रह्म से जब पृथक होना पड़ता है तब उसका सबसे अप्रिय परिणाम यह होता है कि वह अपने स्वरूप को विस्मृत कर बैठता है। जीव परमात्मा का ही अंश है, पर उससे पृथक होते ही उस दिव्य सम्बन्ध की अनुभूति से वह दिन-दिन दूर पड़ता जाता है। ऐसा घोर स्वरूप-परिवर्तन होता है, दूरी की दीवार कुछ लम्बी ही नहीं इतनी ऊँची भी उठती जाती है कि जहाँ आत्मा परमात्मा का एकाकार था वहाँ दो का अभिशाप जीव को अनेक प्रकार के दोषों का आखेट-स्थल सा बना लेता है। जैसे कमल में जब तक गन्ध है तब तक तो वह उसकी है पर जब वायु गन्ध को चुरा ले जाती है तब उस गन्ध को न सर की सुधि रहती है और न सुमन की। इसी प्रकार ब्रह्म रूपी कंज से निसृत जीव रूपी गन्ध को जब विश्व-समीर चुरा लाता है तब इस जीव को न अपने अमरलोक का ध्यान रहता है और न दिव्य उत्पत्ति

का। बादल से टपकी बूँद यद्यपि बादल ही की है, पर जब वह पंक में पतित होती है तब सभी यह कहने लगते हैं कि कीच की बूँद है; अतः इस उज्ज्वल जीव में मलिन पृथ्वी के सम्पर्क से मलिनता का भी मिथ्या आरोप होता है। सरिता को ही देखिए, जब वह गिरि-उर को छोड़ती है और समुद्र के खारे जल से भेंट करती है, तब उसका मधुर जल भी खारा हो जाता है। क्या आत्मा की मधुरता भी इस जगत् के खारे जल में—दुःख से—खारी सी प्रतीत नहीं होती? इस प्रकार आत्मा और परमात्मा के स्वरूप में भेद डालने वाली दो बातें हुईं—

१—आत्मा का परमात्मा से पृथक होकर पृथ्वी पर आना, जिससे दिव्यता, आनन्द और महानता के गुणों पर पर्दा पड़ा और संसार के सम्पर्क या शरीर में बन्दी होने से मलिनता, दुःख और क्षुद्रता के गुणों का आरोप हुआ।

२—जीव का आवागमन के चक्कर में पड़ना, जिसमे मानव को कमल पर जलबिंदु, आँखों से ढुलते आँसू, वीणा के तारों से निकले स्वर, ध्वनि का अनुकरण करनेवाली प्रतिध्वनि, समुद्र में बनने मिटने वाले बुद्बुदों के समान नित्यता के स्थान पर अस्थिरता, क्षणभंगुरता के विशेषण मिले।

(साध्य-साधक सम्बन्ध को लेकर महादेवी जी की अपनी विशेषता यह है कि और सभी ब्रह्म के प्रेमियों की पंक्ति में बैठकर उन्होंने ब्रह्म की महत्ता तो स्वीकार की ही है, पर आत्मा या साधिका की महत्ता की घोषणा भी उन्होंने बराबर की है। वे जानती हैं कि शरीर में बँधने से चेतन अपने महान रूप में सामने नहीं आता, पर इससे उसकी महत्ता में बट्टा नहीं लग सकता। पहिली बात तो यह है कि असीम ससीम का ही व्यापक रूप है।) अपार अगाध समुद्र क्या है? छोटी-छोटी लहरों का समूह। बादल क्या है? बूँदों का समूह। रेगिस्तान क्या है? रेणु का ढेर। बड़े छोटों के बल पर ही बड़े हैं। छोटों के बिना बड़ों की कल्पना भी नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि परमात्मा की महत्ता को घोषित करने वाला प्राणी ही है। यदि सृष्टि न होती, प्राणी न होते तो ब्रह्म की महत्ता को कौन जानता? उसके अतिरिक्त यदि और कुछ

न होता तो उसे कौन पहचानता ? महादेवी जी के प्रेम में पत्नी का आत्म-समर्पण नहीं, प्रेमिका का गर्व है जो बहुत सुन्दर प्रतीत होता है—

क्यों रहोगे क्षुद्र प्राणों में नहीं
क्या तुम्ही सर्वेश एक महान् हो ?

यह साधिका अविराम साधना में लीन है। जैसे-जैसे वह घुल रही है वैसे ही वैसे वह अपने प्रियतम के निकट आ रही है। जन्म-जन्मान्तर से उसका काम रहा है जलना, घुलना, मिटना और मिट-मिट कर निकटतर आना। दूसरी ओर सृष्टि के प्रति अपने कर्त्तव्य को भी वह भूली नहीं है। इस कर्तव्य का निर्वाह किया है उसने जगत को करुणा का एक अमिट संदेश देकर। प्रेम के कंटकाकीर्ण पथ पर करुणा के फूल बिछाती हुई आलोक की यह पुतली अपने आगे बिछे अनन्त पथ के अन्धकार को चीरती हुई अक्षय आलोक की क्रोड़ में क्रीड़ा करने जा रही है—

(अ) मैं करुणा की वाहक अभिनव

(आ)········दीप-सी मैं

आरही अविराम मिट मिट
स्वजन और समीप सी मैं

साधना-भूमि : प्रकृति तत्त्व

शरीर साधना-यंत्र होते हुए भी और प्रकृति को साधना-भूमि जानते हुए भी साधकों ने शरीर और प्रकृति दोनों से असंतोष प्रकट किया है, दोनों को ब्रह्म-प्राप्ति में बाधक माना है। शरीर का कारागार यदि टूट जाता और प्रकृति का व्यवधान बीच से उठ जाता, तो आत्मा और परमात्मा के मिलन में फिर कोई अंतराय न रहता। प्राणी और परमात्मा का ऐसा सम्बन्ध है जैसे—'जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।' अतः बाहर और भीतर के पानी के मिलने के लिए कुंभ के टूटने की आवश्यकता जैसे कबीर ने बतलाई है वैसे ही ब्रह्म के निवास-स्थान के विषय में कहा है—

मैं तो रहों सहर (सांसारिक हलचल) के बाहर।

पर महादेवी जी ने प्रकृति को अत्यन्त सहानुभूति की दृष्टि से देखा है। वह प्यारी इसलिए हो उठी है कि उसी के माध्यम से उन्होंने प्रियतम की झलक पाई है; और अभिन्न इसलिए कि वह उन्हें उनके साधना-यज्ञ में आहुति का काम देती है, प्रेम के भावोद्दीपन में सहायक है। कोकिल की वाणी उनके हृदय में करुण भावों का संचार करती, अनिल प्रिय का संदेश वहन करता, बेंत के वनों का निस्वन करुण विहाग गाता प्रतीत होता है। (शेफाली जब सकुचाती लजाती हुई खिलती है तब महादेवी भी न जाने क्या-क्या सोचने लगती हैं और 'सात्विकों' को शरीर पर अधिकार जमाते देख बड़े भोलेपन से पूछती हैं—

पुलक-पुलक उर, सिहर-सिहर तन
आज नयन आते क्यों भर-भर ?

एकाध स्थल पर जो उन्होंने प्रकृति के बन्धनों को तोड़ने की बात कही है वह उत्सुकता की अतिशयता व्यंजित करने के लिए जैसे—

तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है ?
जा रहे जिस पंथ से युग कल्प उसका छोर क्या है ?

प्रकृति में महादेवी जी ने अधिकतर ऐश्वर्यमयी दृष्टि डाली है—चाँदी की किरणें; मोती से तारे, मोती सी ओस की बूँदें, मोती सी रातें, नीलम के बादल, इंदुमणि जैसे जुगनू, प्रवाल सी उषा, सोने के दिन; इसी प्रकार स्वर्ण-पराग सी सांध्य-गगन की लालिमा। उन्हें काले बादलों में बिजली ऐसी लगती है जैसे नीलम के मन्दिर में हीरक प्रतिमा; उनके निशि-वासर कनक और नीलम-यानों पर दौड़ते हैं; मेघ चूनर स्वर्ण-कुंकुम में बसाकर रँगी जाती है; तारे ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे रजनी ने नीलम-मंदिर के वातायन खोल दिए हों। आशङ्का है कोई प्रगतिवादी इनमें पूँजीवाद की छाया न देखने लगे। बात यह है कि हमारी साधिका ब्रह्म की सुहागिन है। उस महान ऐश्वर्यशाली की प्रेमिका के लिए चाँदी, सोना, मोती, प्रवाल, नीलम, पुखराज सामान्य वस्तुएँ न होंगी तो किसके लिए होंगी ?

बीच-बीच में रम्य खण्ड-दृश्यों को उपस्थित करने के अतिरिक्त महादेवी जी ने प्राकृतिक वस्तुओं के पूर्ण-चित्र भी अङ्कित किये हैं जैसे रजनी, प्रभात, संध्या, वर्षा, बादल आदि के। सामान्य दृष्टि से ये रचनाएँ ऐसी प्रतीत होंगी मानों रहस्यवाद के प्रभाव से मुक्त हों। जैसे अन्य प्रकृति-प्रेमी प्रकृति-दर्शन से प्रभावित होते हैं उसी प्रकार महादेवी जी भी रमी हुई प्रतीत होंगी। परन्तु जब इन रचनाओं की अन्तिम पंक्तियों तक हम पहुँचते हैं, तब ये भी सोद्देश्य प्रतीत होती हैं। यदि रात्रि है तो कवि-प्रथानुसार जहाँ सन्ध्या की मिटती लालिमा, पत्रों के मधुर मर्मर, मुँदते कमल में गूँजते अलि, लालिमा पर छा जाने वाले तम, मोती से नक्षत्रों, उज्ज्वल रश्मियों, मदिर वात एवं धवल चन्द्र आदि का वर्णन है, वहाँ कवयित्री ने अवनि के पुलकित होने में 'प्रिय के पद-चाप' को कारण माना है। प्रभात में जहाँ तारक सुमनों के झड़ने की, स्वर्ण-किरणों के पृथ्वी पर उतरने की, मेघों के रँगने की, पुष्पों में लालिमा भरे जाने की चर्चा है, वहाँ प्रभातबाला से स्वप्नमग्न पलकों को न खोलने की विनय भी है। कबीर के समान—'सपने में साँई मिले सोते लिया जगाय,

आँखि न खोलूँ डरपता मत सपना हो जाय'—वाले पश्चाताप का सामना न करना पड़े। संध्या समय जहाँ तम में अरुणिमा को घोला है, जहाँ श्याम, अरुण, पीत आभा वाले मेघ दृष्टि-पथ में आए हैं, जहाँ पक्षियों को नीड़ों की ओर जाते देखा है, वहाँ सन्ध्या-सुन्दरी को 'प्रिय' की स्मृति में मग्न भी छोड़ दिया है। (वर्षा-वर्णन में जहाँ श्याम मेघों का, टपकती बूँदों का, विद्युत् का, जुगुनुओं का, बग-पंक्ति का, मयूरों का उल्लेख है वहाँ संतप्त उदास जग को शीतल करने और दुलराने की बात भी उठाई है जिसमें भगवान की करुणा की ओर संकेत है। पावस काल के उन बादलों को देख जो पृथ्वी, चातक और मयूरों के लिए नव संदेश लाते हैं, कहीं तो वे अपनी भरी अँखियों की पलक-पँखुड़ियों को ऊपर उठाकर यह पूछती हैं कि हे नवीन घन कुछ मेरे लिए भी संदेश लाए हो, और कहीं उनसे ध्वनि न मचाने की प्रार्थना करती हैं; क्योंकि उससे व्याकुल सुधि के, जिसके पलक अभी लगे हैं, जग जाने की आशंका है। इसी प्रकार जहाँ भ्रमर, पतंग, मीन, चकोर, कमल, पर्वत सामने आए हैं वहाँ प्रेमादर्श की व्यंजना के लिए।) इन कविताओं को लेकर यह कहने लगना कि महादेवी जी में स्वतन्त्र प्राकृतिक वर्णनों की सामर्थ्य नहीं है, उचित नहीं है। (उनकी दृष्टि से सारी सृष्टि ब्रह्म के स्नेह में आकुल और मग्न है; अतः इन्हीं रूपों में उसका हमारे सामने आना स्वाभाविक है। इन भावों की व्यंजना और आरोप ही इनका सौंदर्य है।)

कुछ चित्र देखिए। इन पंक्तियों के अंत में दार्शनिकता या अध्यात्म का पुट अनिवार्य रूप से है; परन्तु जिस प्रकार की रम्य कल्पनाएँ महादेवी जी ने की हैं, दार्शनिक या अध्यात्मवादी क्या वैसी सौंदर्य की भाषा में कभी सोच सकता है?

(१)

ओ अरुणवसना !

छू मृदुल जावक-रचे पद
होगये सित मेघ पाटल;
विश्व की रोमावली

आलोक-अंकुर सी उठी जल !
बाँधने प्रतिध्वनि बढ़ी लहरें बजी जब मधुप-रशना।
बंधनों का रूप तम ने
रात भर रो रो मिटाया;
देखना तेरा क्षणिक फिर
अमिट सीमा बाँध आया !
दृष्टि का निक्षेप है बस रूप-रंगों का बरसना !

(२)

लाये कौन संदेश नये घन।
चौंकी निद्रित,
रजनी अलसित
श्यामल पुलकित कंपित कर में दमक उठे विद्युत् के कंकण !
लाये कौन संदेश नये घन ?
सुख दुख से भर
आया लघु उर,
मोती से उजले जलकण से छाये मेरे विस्मित लोचन !
लाये कौन संदेश नये घन ?

(३)

आज सुनहली बेला ?
आज क्षितिज पर जाँच रहा है तूली कौन चितेरा ?
मोती का जल, सोने की रज, विद्रुम का रंग फेरा ?
क्या फिर क्षण में,
सांध्य गगन में,
फैल मिटा देगा इसको
रजनी का श्वास अकेला ?
कितने भावों ने रँग डालीं सूनी साँसें मेरी
स्मिति में नव प्रभात, चितवन में संध्या देती फेरी;

उर जलकणमय
सुधि रंगोंमय,
देखूँ तो तम बन आता है
किस क्षण वह अलबेला ?

(४)

यह संध्या फूली सजीली !
आज बुलाती हैं विहगों को नीड़ें बिन बोले;
रजनी ने नीलम-मंदिर के वातायन खोले;
एक सुनहली उर्म्मि क्षितिज से टकराई बिखरी,
तम ने बढ़कर बीन लिए, वे लघुकण बिन तोले ?
अनिल ने मधु-मदिरा पी ली !
मुरझाया वह कंज बना जो मोती का दोना;
पाया जिसने प्रात उसी को है अब कुछ खोना;
आज सुनहली रेणु मली सस्मित गोधूली ने,
रजनीगंधा आँज रही है नयनों में सोना !
हुई विद्रुम बेला नीली !
मेरी चितवन खींच गगन के कितने रँग लाई !
शत रंगों के इंद्रधनुष सी स्मृति उर में छाई,
राग-विरागों के दोनों तट मेरे प्राणों में,
श्वासें छूतीं एक, अपर निश्वासें छू आई !
अधर सस्मित, पलकें गीली !

आलङ्कारिक रूप में भी जहाँ प्रकृति के दृश्यों का उपयोग किया गया है वहाँ भी किसी रहस्यभाव के सम्बन्ध से, जैसे 'गुलाब सी प्रात' में गुलाब के समावेश से प्रभात में रंगीनी, कोमलता, स्फूर्ति और आह्लाद प्रदान करने की जो व्यंजना है वह पुष्प के मुरझाने पर एक मूर्त आधार द्वारा सौंदर्य की क्षणिकता का आभास दे हृदय पर गहरी चोट मारकर सौंदर्य के मूल अजस्र स्रोत की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए। इसी प्रकार 'सिंधु' को उदा-

ग्रहण के लिए इसलिए चुना है कि उससे लहर और जल का गोचर दृश्य उपस्थित कर आत्मा-परमात्मा की अभिन्नता स्थापित की जा सके। 'पर्वत' को उपमा के रूप में इसलिए आगे खड़ा किया है कि मृत्यु से जीवन का विकास दिखाने के लिए कठोर पत्थर से बहने वाली जलधारा का रूप बोध-गम्य हो सके। और 'आकाश' को अप्रस्तुत के रूप में इसलिए रखा है कि जिस प्रकार उसके वक्ष पर नक्षत्रों के दीप जलते, बादल पिघलते, बिजली कड़कती, रात-दिन स्वर्ण एवं नीलमयानों पर चढ़कर दौड़ते और उसे विचलित नहीं कर पाते, इसी प्रकार अनेक परिवर्तनों के आधार ब्रह्म में असंख्य लोकों के सृजन और विनाश होने पर भी किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हो सकता, उसकी निर्विकार स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। ज्ञानी और रहस्यवादी में इतना ही अन्तर है कि दोनों बात तो एक ही कहते हैं, पर एक अपनी बात को हृदय में बसाने की सामर्थ्य नहीं रखता, दूसरा रखता है; क्योंकि एक के पास हृदय है दूसरे के पास नहीं।

यदि किसी रम्य दृश्य की वर्णन-पटुता ही देखनी है तब हिमालय पर मँडराते इन काले बादलो को देखिए। इस चित्र में 'रूप' की रेखाएँ कितनी स्पष्ट और सजीव तथा 'वर्ण' की तूलिकाएँ कितनी उपयुक्त और सधी हैं। साथ ही बादलों के घिरने घुमड़ने से चित्र को जो 'गति' प्रदान की है उसे चित्रकार किस कौशल से प्रदर्शित करेगा?

तू भू के प्राणों का शतदल!—
सित क्षीरफेन हीरक-रज से
जो हुए चाँदनी मे निर्मित,

पारद की रेखाओं में चिर
चाँदी के रंगों से चित्रित,

खुल रहे दलों पर दल झलमल?—
सीपी से नीलम से द्युतिमय,

कुछ पिंग अरुण कुछ सित श्यामल,
कुछ सुख-चञ्चल कुछ दुख-मंथर
फैले तम से कुछ तूल-विरल,
मँडराते शत-शत अलि-बादल!

अन्य भावों के अतिरिक्त महादेवी जी ने प्रकृति से अस्थिरता, नश्वरता या अनित्यता का भाव भी ग्रहण किया है। यह इसलिए कि सत्, अविनश्वर, नित्य की ओर ध्यान जा सके। जीवन और जगत् का मधुदिन अस्थिर है, गुञ्जन अस्थिर है, मधुमद वितरण अस्थिर है; अतः इस संसार को क्या प्यार करना? ऊँचे उठकर उसे ही प्रेम करने में सार्थकता है जो चिर सुन्दर, चिर मधुर है। संध्या का रंगीन चित्र तम की एक श्वास से ही मिट जाता है, रंगीन मेघ क्षण भर ही रह पाते हैं, मोती के ओसकण भरकर जो कंज प्रभात काल में प्रस्फुटित होते हैं वे सन्ध्या तक म्लान पड़ जाते हैं, मुरझा जाते हैं।

अब प्रकृति सम्बन्धी महादेवी जी के मानसिक-विकास को देखना चाहिए।

नीरजा के अन्तिम गीत 'केवल जीवन का क्षण मेरे' में उन्होंने प्रकृति के आकर्षणों को स्वीकार किया है। जीवन के पल थोड़े हैं, किसे दिये जायँ किसे न दिए जायँ? प्रभात रात, विद्युत् घन, आकाश सुमन, निर्झर समीर, नक्षत्र सागर सभी अपने अनन्त ऐश्वर्य को लिए प्राणी के पलों के भिक्षुक हैं। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्रकृति ब्रह्म के प्रेम में बाधा डालती है, बटवारा चाहती है। पर प्रकृति स्वयं उसी के प्रेम में लीन है जिसके प्रेम में महादेवी। [illegible] अपने विस्मय-विस्फारित नेत्रों से किसी का मार्ग तकते हैं, अंधकार बिजली के दीप जलाकर किसी को खोजता फिरता है, संध्या नक्षत्रों के दीप जलाकर किसी की प्रतीक्षा करती है, पवन अपना प्रियलोक छोड़ने पर पश्चाताप प्रकट करता है। घनों का झुकना, अम्बर का अञ्चल फैलाना, रात का रोना, कलियों और निर्झर का अश्रुमय होना, स्नेह भर कर तारों का जलना, सागर की लहरों का प्यासा घूमना महादेवी के ही लिए नहीं है, महादेवी के प्रियतम के लिए भी है। वास्तव में सारी सृष्टि ब्रह्म के लिए ही व्याकुल है,

पर वह बाहर से सुन्दर है; अतः आकर्षित करती सी प्रतीत होती है। अतः प्रारम्भ में जो प्रकृति प्रेम में व्याघात उत्पन्न करती दिखाई देती थी वह एक ही पथ की पथिक होने से सखी सिद्ध हुई। ये दोनों ही शृङ्गार करती हैं, दोनों ही विरह-व्यथिता हैं, दोनों ही अभिसार के लिए तत्पर होती हैं और दोनों ही का मिलन होता है। भाव विकास होते-होते महादेवी जैसे इस निश्चय पर पहुँचती हैं कि वे और ब्रह्म दो नहीं हैं उसी प्रकार इस निश्चय पर पहुँची हैं कि प्रकृति भी उनसे भिन्न नहीं है। उनके काव्य-ग्रंथों में कुछ पंक्तियाँ ऐसी हैं जो इस बात का संकेत करती हैं कि प्रकृति के बाह्य परिवर्तनों या दृश्यों को मानव-अनुभूति से खंडित करके वे नहीं देखतीं। सारी सृष्टि में जिसमें जड़ चेतन दोनों सम्मिलित हैं एक व्यापक मन की कल्पना ऐसी कल्पना है जिससे ऊँचा उपासक की स्थिति में कवि उठ ही नहीं सकता। इससे ऊँची एक ही स्थिति है। वह है उपासक और उपास्य का एक हो जाना। प्रकृति में महादेवी जी ने अपने व्यक्तित्व को कैसे समाहित कर दिया है पहले यह देखिए—

फैलते हैं साध्य-नभ में भाव ही मेरे रँगीले,
तिमिर की दीपावली हैं रोम मेरे पुलक गीले।

अतः प्रकृति को लेकर भाव-विकास की तीन स्थितियाँ हुईं :—

१—महादेवी जब ब्रह्म की ओर जा रही हैं तब प्रकृति अपने सम्पूर्ण सौंदर्य से उन्हें अपनी ओर आकर्षित करती है।

२—प्रकृति महादेवी को अपने समान ही ब्रह्म की प्रेमिका प्रतीत होती है।

३—बाह्य प्रकृति आभ्यंतर प्रकृति की प्रतिच्छाया मात्र है।

दार्शनिक आधार

चिन्तन रहस्यवादी के जीवन का एक अनिवार्य अङ्ग है। रहस्यवादी एक अनुभूति-प्रधान दार्शनिक है। कबीर जैसे रहस्यवादियों की रचनाओं में भी, जिन्हें व्यवस्थित रूप से शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था और जिन्होंने सत्सङ्ग से ही शास्त्र की बातों की जानकारी प्राप्त की थी, वेदान्तिक प्रक्रिया से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत सी ऐसी बातें पाई जाती हैं जिनकी परिभाषा जाने बिना अर्थ नहीं खुल सकता, जैसे 'भाग त्याग लक्षणा के आधार पर छांदोग्य उपनिषद् के 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ को खोलने के लिए "तत पद त्वं पद और असीपद् 'वाच' 'लक्ष्य' पहिचाने, 'जहद लक्षणा' 'अजहद' कहते 'अजहद जहद' बखाने" वाले वर्णन में लक्षणा के भेदों का ज्ञान। फिर सुशिक्षिता महादेवी जी की रचनाओं में यदि वेदान्त शास्त्र सम्बन्धी बहुत सी उक्तियों, धारणाओं और अनुभूतियों का 'अनुवाद' मिले तो क्या आश्चर्य है?

'नीहार' एक अनुभूति-प्रधान ग्रन्थ है। उसमें चिन्तन को बहुत कम अवकाश मिला है। हृदय के झकझोरे जाने का ही वह परिचय देता है। जिस समय रई जमे हुए दही को केवल फोड़कर क्षुब्ध करती है उस दशा को 'नीहार' व्यक्त करता है; परन्तु मन्थन होने से धीरे-धीरे नवनीत के जो कण ऊपर आते हैं वे आगे की बात है। 'नीहार' की रचनाओं से हमें इतना ही पता चलता है कि सभी संसारी जीवों की भाँति सामान्य गति से चलने वाले उनके जीवन में सहसा परिवर्तन उपस्थित हुआ। किसी के रूप-दर्शन की स्मृति बार-बार उनके हृदय में खटकती है। इन्हीं रचनाओं में प्रिया-प्रियतम का सम्बन्ध स्थापित होता है। इसके उपरान्त उनके हृदय को वैराग्य की ओर मुड़ते देखते हैं। यहाँ चिंतन का प्रवेश होता है। इस मायात्मक जगत से विरक्ति उत्पन्न करना साधकों का लक्ष्य रहा है। महादेवी जी ने भी कहा है 'सखे, यह है माया का देश।' संसार की अस्थिरता, क्षणभंगुरता, निष्ठुरता, निर्ममता उसके स्वार्थ और विश्वासघात का प्रतिपादन भी है।

नीहार में वैराग्यवान होने के साथ एकान्त की प्रेमिका भी वे लगती हैं। प्रकृति भी उन्हें ब्रह्म के लिए व्याकुल दिखाई देती है। यहीं तक नहीं, वह चंचल भी प्रकृति से छेड़छाड़ करता प्रतीत होता है। अतः महादेवी सोचती ही रह जाती हैं कि जो मन में छिपा बैठा है वह बाहर कैसे शरारत करता फिरता है ?

घूँघट पट से झाँक सुनाते
अरुणा के आरक्त कपोल
'जिसकी चाह तुम्हें है उसने
छिड़की मुझ पर लाली घोल।'
वे मंथर-सी लोल हिलोरें
फैला अपने अञ्चल छोर,
कह जातीं 'उस पार बुलाता
है हमको तेरा चितचोर ?'
यह कैसी छलना निर्मम
कैसा तेरा निष्ठुर व्यापार ?
तुम मन में हो छिपे
मुझे भटकाता है सारा संसार !

इस प्रकार 'नीहार' में 'प्रियतम' पृथक्, 'प्रिया' पृथक् और 'प्रकृति' पृथक् है। प्रियतम को अज्ञात कहते हुये भी इस तथ्य की उपलब्धि इस ग्रन्थ में अवश्य हुई है कि उन्होंने अपने प्रियतम को सबका 'साक्षी' माना है। यहीं से अद्वैतवाद का दृढ़ आधार उन्हें मिलता है। उन्होंने जिसे अज्ञात कहा है और अद्वैतवादी जिसे 'अज्ञेय' कहते हैं उसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह है ही नहीं। वह है तो सही, पर मन और बुद्धि की उस तक पहुँच नहीं है। वह 'अवाङ् मानस गोचर' सत्य है। इन्द्रियाँ उसका निरूपण नहीं कर सकतीं। अनुभव में इसलिये नहीं आता कि वह अनुभूतिमय है। दिखाई इसलिये नहीं देता कि वह कोई दृश्य नहीं, स्वयं 'देखना रूप' है। उस पर बुद्धि क्या प्रकाश

डालेगी, वह 'स्वयं प्रकाश' है। बुद्धि को भी वही प्रकाशित कर रहा है। जिससे सब कुछ जाना जाता है, उसे किस वस्तु से जाना जाय ?

(अ) वे कहते हैं उनको मैं
अपनी पुतली में देखूँ
यह कौन बता जायेगा
किसमें पुतली को देखूँ ?

(आ) येमेदं ज्ञायते सर्वं तत् केनान्येन ज्ञायताम्

—पञ्चदशी

(इ) अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति।

(ई) यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति—केन १ । ६

महादेवी जी की दूसरी कृति 'रश्मि' उनकी प्रथम प्रौढ़ रचना है। इसके भाव अधिक स्पष्ट, भाषा अधिक प्रांजल और मधुर तथा विचार अधिक स्थिर हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे 'रश्मि' की रचनाओं को प्रारम्भ करने से पहिले महादेवी जी ने कुछ काल तक कतिपय मान्य दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन किया हो। 'रश्मि' की ३५ रचनाओं में आधी से अधिक अत्यन्त भावमयी भाषा में आत्मा, प्रकृति और परमात्मा का स्वरूप-निरूपण करती हैं। उनमें सृष्टि, प्रलय और परिवर्तन की चर्चा है। इन सभी रचनाओं में उन्होंने अद्वैतवाद का अनुसरण किया है और विभिन्न उपनिषदों के विचारों की स्पष्ट छाप उनके गीतों पर है। यह दूसरी बात है कि सिद्धान्त प्रतिपादन मौलिक ढंग से हुआ हो, पर विचारों की आत्मा वही है।

अद्वैतवादियों के अनुसार यह दृश्य-जगत मिथ्या है। परमार्थ इतना ही है कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सृष्टि कभी हुई ही नहीं। पर भ्रम-काल में भासित होती है जैसे बालू में जल की, सीपी में रजत की और रज्जु में सर्प की प्रतीति। इस भ्रम को दूर करने के लिए उपनिषदों या अन्य वेदान्त ग्रंथों में ईश्वर, जीव और सृष्टि के वर्णन मिलते हैं। मिथ्या वस्तु से भी मिथ्या वस्तु का विनाश सम्भव है जैसे स्वप्न की बन्दूक से स्वप्न के सिंह

का। इसी से तत्ववेत्ता शङ्का-समाधान के लिए वर्णन के बखेड़े में पड़ते हैं। कहा गया है—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता। माण्डूक्य २। ३२

अवाङ् मनसगम्यं तं श्रुतिर्बोधयितुं सदा।
जीवमीशं जगद् वापि समाश्रित्य प्रबोधयेत्।

यह सृष्टि स्वप्न के समान मिथ्या है—प्रतीत होते हुए भी असत् है। स्वप्न हमारी कल्पनाओं का साकार होना है। रात्रि को हम किसी का स्मरण करते हुए सो जाते हैं। थोड़ी देर में उसका दर्शन कर लेते हैं। कभी-कभी हम ऐसी वस्तुओं को भी देखते हैं जो उस रूप में बाह्य सृष्टि में नहीं पाई जातीं, जैसे सोने का पर्वत या एक ऐसा जीव जिसका मुख तो सिंह का है और शेष शरीर आदमी का। पर सोना और पर्वत इसी प्रकार सिंह और मनुष्य तो हमारे जाने पहचाने हैं। दो भिन्न वस्तुओं की भावनाओं ने मिलकर स्वप्न में एक विलक्षण रूप धारण कर लिया। कभी-कभी और भी विलक्षण परिवर्तन होते हैं जैसे यदि यह इच्छा हो कि हम वायुयान में उड़ें तो स्वप्न में अपने को वायुयान में उड़ता न पाकर यह देख सकते हैं कि हम एक ऊँची दीवाल पर दौड़ रहे हैं, साइकिल पर घूम रहे हैं, नदी में तैर रहे हैं, या आकाश में उड़ रहे हैं। यहाँ केवल गति के स्वरूप में परिवर्तन हो गया है। हमारी कल्पना जब विलक्षण सृष्टि का सृजन कर सकती है तब ब्रह्म की कल्पना जो कर दे वह थोड़ा है। स्वप्नकाल की प्रतीति को जागरण काल में सभी मिथ्या ठहराते हैं। महादेवी जी ने इस सृष्टि को स्वप्न के समान ही माना है—

(अ) शून्यता में निद्रा की बन
उमड़ आते ज्यों स्वप्निल घन

(आ) अद्वितीय ब्रह्मतत्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत्।

वह अद्वितीय ब्रह्म एक बार एकाकीपन के भार से अकुला उठा—

(अ) हुआ त्यों सूनेपन का भान
प्रथम किसके उर में [illegible]

और किस शिल्पी ने अनजान
विश्व-प्रतिमा कर दी निर्माण ?

(आ) सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय ।

(इ) आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यत्किंचनामिषत् ।
स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति । ऐतरेय । १ ।१ । १

(ई) स इमाल्लोंकानसृजत । ऐतरेय १ । १ । २

सृष्टि होने से पहिले सृष्टि का अस्तित्व न था—न व्यक्त :पूर्व मस्त्येव—और यह सृष्टि उस अनन्त निर्विकार में हुई—

असङ्गो ह्ययं पुरुषः ।

इन दोनों बातों को कवयित्री ने निम्न प्रकार से स्वीकार किया है :—

(आ) न थे जब परिवर्तन दिन रात
नहीं आलोक तिमिर थे ज्ञात
व्याप्त क्या सूने में सब ओर
एक कंपन थी एक हिलोर ?

(अ) न जिसमें स्पन्दन था न विकार ।

सृष्टि के अभेद के साथ आत्मा और परमात्मा के समान गुणों की और फिर एकाकार की चर्चा भी 'रश्मि' में अनेक प्रकार से हुई है । उदाहरण लीजिये—

(आ) सिन्धु को क्या परिचय दें देव
बिगड़ते बनते वीचि-विलास ?
क्षुद्र हैं मेरे बुदबुद प्राण
तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं में नाश

(अ) मैं तुमसे हूँ एक एक हैं
जैसे रश्मि प्रकाश ।

आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता स्थापित करने के लिए महादेवी जी ने जिस प्रकार चन्द्रमा और उसकी किरणों का उदाहरण दिया है, उसी प्रकार आत्मा को इन्द्रियों का लयस्थान मानते हुए प्रश्नोपनिषद् में सूर्य और उसकी

मरीचियों के उदाहरण द्वारा यह समझाया गया है कि जैसे स्वप्नकाल में सभी इन्द्रियाँ मन में लीन रहकर जाग्रतावस्था में फिर सक्रिय हो जाती हैं, उसी प्रकार सृष्टिकाल में हम किरणों के समान उस पुरुष-दिवाकर से पृथक् होकर भी उसके निष्क्रिय काल में उसी में लीन रहते हैं। देखिये—

(आ) तुम हो विधु के बिम्ब और मैं
मुग्धा रश्मि अजान,
जिसे खींच लाते अस्थिर कर
कौतूहल के बाण,
ओस-धुले पथ में छिप तेरा
जब आता आह्वान,
भूल अधूरा खेल तुम्हीं में
होती अन्तर्धान ?

(अ) यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति। ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्ति। —प्रश्न ४।२

माण्डूक्य उपनिषद् के अद्वैत प्रकरण में आत्मतत्त्व को अविकारी सिद्ध करने के लिए आकाश को उदाहरण-स्वरूप सामने लाया गया है। कहा गया है कि अविवेकी पुरुष ही मल (धुँआ, धूलि अथवा मेघ) के कारण आकाश को मलिन समझते होंगे। आगे बढ़कर यहाँ तक कहा गया है कि जन्म, मृत्यु और जन्मान्तर के परिवर्तनों को स्वीकार करने पर भी आत्मा में आकाश के समान कोई विकार सम्भव नहीं। यह बात दूसरे ढंग से अनेक परिवर्तनों के आधारभूत निस्संग आकाश के सम्बन्ध में हमारी कवयित्री ने 'रश्मि' में सिद्ध की है :—

(अ) यथा भवति वातानां गगनं मलिनं मलैः।
तथा भवत्यबुद्धानामात्मापि मलिनो मलैः।
मरणे सम्भवे चैव गत्यागमनयोरपि।
स्थितौ सर्वशरीरेषु आकाशेना विलक्षणः। माण्डूक्य ३।८।९

(आ) वक्ष पर जिसके जल उडुगन

बुझा देते असंख्य जीवन,
कनक औ नीलम-यानों पर
दौड़ते जिस पर निशिवासर,
पिघल गिरि से विशाल बादल
न कर सकते जिसको चञ्चल,
तड़ित की ज्वाला घन-गर्जन
जगा पाते न एक कंपन ?
उसी नभ सा क्या वह अविकार-
और परिवर्तन का आधार ?

इस प्रकार 'नीहार' में जहाँ आत्मा, परमात्मा और प्रकृति पृथक्-पृथक् थीं वहाँ 'रश्मि' की रचनाओं में एक ओर आत्मा और परमात्मा और दूसरी ओर प्रकृति और परमात्मा के द्वैत का निराकरण हुआ। मानों 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' और 'अहं ब्रह्म' का भान हुआ। मानों इस सिद्धान्त की मूक घोषणा हुई कि—

सर्वं ब्रह्मेति जगता सामनाधिकरण्यवत्।
अहं ब्रह्मेति जीवेन् सामानाधिकृतिर्भवेत्॥

'नीरजा' फिर एक अनुभूति प्रधान रचना है। जैसे गिरि के चरणों में बहने वाली किसी स्रोतस्विनी की लहर ऊँची उठकर गिरि पर चढ़ तो जाय; पर अपनी गति के लिये शुष्क और कठोर भूमि पाकर फिर तलहटी की सरस भूमि पर उतर आवे, वैसे ही 'नीहार' की तटिनी से उत्पन्न जो विचार की लहर उठी थी वह 'रश्मि' में ज्ञान के गिरि पर तो चढ़ी पर अपने संचार के लिए उपयुक्त भूमि न पाकर 'नीरजा' में फिर अनुभूति के पथ पर लौट आई। काव्यत्व की रक्षा के लिए यह अच्छा ही हुआ। 'नीरजा' में महादेवी जी की विचारधारा ज्ञान और प्रेम के दो कूलों के बीच, ब्रह्म और जगत के दो कगारों के बीच, सूक्ष्म और स्थूल के दो पाटों के बीच बही है। बहाव ज्ञान की अपेक्षा प्रेम की ओर अधिक है। स्वरूप की विस्मृति न होते हुए भी अस्तित्व की पृथकता का भान दृढ़ हो गया है और प्रेम का आनन्द लेने के

लिए उस पृथकता में आनन्द आने लगा है। आत्म-समर्पण को स्वीकार नहीं किया। दोनों बातें देखिए—

(१) काया छाया में रहस्यमय
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या ?

(२) हारूँ तो खोऊं अपनापन
पाऊँ प्रियतम में निर्वासन
जीत बनूँ तेरा ही बन्धन

महादेवी जी ने अनेक स्थलों पर प्रियतम को हृदय में बसा हुआ बतलाया है। उपनिषद् भी अंतःकरण को उस पुरुष का निवास-स्थल निर्देशित करते हैं—

(अ) वह गया बँध लघु हृदय में —नीरजा
(आ) मेरे ही मृदु उर में हँस बस —नीरजा
(इ) प्रिय मुझी में खोगया अब दूत को किस देश भेजूँ।
—दीपशिखा
(ई) इहैवान्तः शरीरे सौम्य स पुरुषः। —प्रश्न ६। २

'सांध्यगीत' के गीतों में उपासना का भाव ही प्रबल है। वे साधना के गीत हैं। प्रिया और प्रियतम् का भाव उनमें और भी प्रबल हो गया है। इन गीतों में अनुभूति की प्रधानता होते हुए भी चिंतनशीलता छूटी नहीं है। किन्तु वह चिंतनशीलता भी आसक्ति को दृढ़ करने वाली है।

तोड़ देता खीझकर जब तक न प्रिय यह मृदुल दर्पण।
देख ले उसके अधर सस्मित, सजल दृग, अलख आनन॥

यहाँ ऐसा प्रतीत होगा जैसे सूफ़ियों से मिलती हुई यह भावना अद्वैत-वादियों से भिन्न जगत को नवीन दृष्टिकोण प्रदान कर रही है। पर ऐसा नहीं है। स्मरण रखना चाहिए कि संसार को मिथ्या समझते हुए भी अद्वैत-वादी उससे इस प्रकार का द्वेष नहीं रखते कि यह जगत नष्ट या विलीन हो जाय। उनका केवल दृष्टि-कोण बदल जाता है। द्वैत दो प्रकार का होता

है - एक ईश्वर-कृत और दूसरा जीवकृत। जगत् ईश्वरकृत द्वैत है। ईश्वर के संकल्प से यह उत्पन्न हुआ है, उसी के संकल्प से नष्ट होगा। इस जगत् को लेकर मन की विविध वासनाएँ जीव कृत द्वैत हैं। यही पिछला द्वैत बन्धन का मुख्य कारण है। पंचदशीकार ने एक उदाहरण देते हुए कहा है कि यदि किसी का पुत्र परदेश में सुखी हो और कोई वंचक कह दे कि तुम्हारा पुत्र मर गया, तो पिता पुत्र के जीवित रहने पर भी विलाप करने लगता है। कारण यह है कि उसका मानस-पुत्र नष्ट हो गया, अतः दुःख हुआ। यही मानस-जगत बन्धन का कारण है। अतः मन को सत्पथ पर डालना चाहिए। ईश्वरकृत द्वैत तो साधना का साधक है। उसी के सामने रहने से ज्ञान होता है, क्योंकि प्रलयकाल में जब जगत नहीं रहता तब तो ज्ञान की बात उठती ही नहीं। विवेक द्वारा जगत के केवल मिथ्या स्वरूप को समझना है, उसे नष्ट करने की व्यर्थ प्रार्थना नहीं करनी है—

प्रलये तन्निवृत्तौ तु गुरुशास्त्राद्यभावतः।
विरोधिद्वैताभावेपि न शक्यं बोद्धुयद्वमम्॥

प्राणी जड़ और चेतन का संयोग है। उसका स्थूल शरीर मृत्तिका-निर्मित है और आत्मा परमात्मा का प्रतिरूप। उस पर अधिकार पृथ्वी का है अथवा आकाश का यह विवाद का विषय है। इस सम्बन्ध में अन्तिम बात कहनी कठिन है, क्योंकि भौतिकवाद और अध्यात्मवाद की दो विचार-धाराएँ सृष्टि के प्रारम्भ से रही हैं और किसी-न-किसी अनुपात में सदैव रहेंगी। 'नीरजा' में कई रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें से किसी में इस स्थिति का ज्ञान, किसी में शरीर की महत्ता का उद्घोष और किसी में जड़-चेतन के अन्तर का व्याख्यान पाया जाता है। 'दीपशिखा' में पृथ्वी के प्रति महादेवी जी के अन्तर में विरक्ति रह नहीं जाती। पहिले तो वे बादल वाले गीत में नभ और रज दोनों ओर के प्रबल आकर्षण का वर्णन करती हैं—

वह जड़ता हीरों से डाली
यह भरती मोती से बाली,

नभ कहता नयनों में बस
रज कहता प्राण समाले !
कजरारे मतवाले,
कहाँ से आए बादल काले ?

'सांध्यगीत' में 'नीर भरी दुख की इस बदली' को इस अनधिकार पर थोड़ी पीड़ा हुई थी कि 'विस्तृत नभ का कोई कोना उसका न कभी अपना होना।' 'दीपशिखा' में इस असंतोष से मुक्ति मिल गई और अपने अव्यवस्थित आवास का जो सन्देह था वह दूर हो गया। सान्त्वना के दृढ़ स्वर ने कहा—

भीति क्या यदि मिट चली
नभ से ज्वलित पग की निशानी,
प्राण में भू के हरी है
पर सजल मेरी कहानी !

आत्मा की गायिका होते हुए भी महादेवी जी जीवन की व्याख्याता हैं। जीवन और मृत्यु के दो कूलों के भीतर व्यथा की सरिता बहाकर उन्होंने सनातन दिव्य गान को गुनगुनाया है। न प्रेमी मुक्ति चाहता है, न भक्त और न रहस्यवादी। ये तीनों अनासक्त रहकर आसक्त रहते हैं। उन्होंने जन्म और मृत्यु की डोरियों पर सधे सुखःदुख की वानीर-तीलियों से बुने झूले पर अपने सुकुमार प्राण-शिशु को लोरी देकर झुलाया है। इससे कहीं द्वैत आ जाता है ऐसी आशङ्का भ्रम है—

मैं ऊर्मि विरल,
तू तुङ्ग अचल वह सिंधु अतल,
बाँधे दोनों को मैं चल चल,
धो रही द्वैत के सौ कैतव।

इस प्रकार असीम गगन में बिहार करने वाली आत्मा की इस विहगी ने

हमारी धरित्री की धूलि को महत्ता प्रदान की है। उसकी इस उदार-कोर की तरलता को हम विस्मय ही नहीं, स्नेह की दृष्टि से भी देखते हैं—

मेरे ओ विहग से गान।
नभ अपरिमित में भले हो पंथ का साथी सवेरा,
खोज का पर अन्त है यह तृण कणों का लघु बसेरा?
तुम उड़ो ले धूलि का
करुणा सजल वरदान!

साधना-पथ

कहीं भी पहुँचने के लिए एक मार्ग की आवश्यकता होती है। गीता में जो यह कहा गया है कि किसी भी रूप में उपासना, उसी की उपासना है, वह अधिकार-भेद को लेकर। कोई कर्म द्वारा उसे प्राप्त करना चाहता है, कोई उपासना (भक्ति) द्वारा और कोई ज्ञान के पथ का पथिक बनकर। जिसकी बुद्धि जितनी विकसित होती है, वह अपनी साधना के लिए उतने ही सूक्ष्म पथ को ग्रहण करता है। कर्म से उपासना का पथ श्रेष्ठ है और उपासना से ज्ञान का। भक्ति और ज्ञान के समर्थकों में अपने-अपने पक्ष की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए समय-समय पर तर्क-वितर्क उठते रहते हैं। एक ओर भ्रमरगीत में निर्गुण के सम्बन्ध में सूरदास जी की गोपियों के चुटीले व्यंग्य और पैने तर्क देखिए, दूसरी ओर स्वामी विद्यारण्य जी की इस उक्ति पर ध्यान दीजिए कि पथ तो ज्ञान का ही है; पर अन्य मार्गों से उपासना की यदि श्रेष्ठता है, तो उसी प्रकार की जैसे भूखे मरने से भीख माँगना अच्छा है।

महादेवी जी ने अपने लिए ज्ञान का सूक्ष्मतम पथ चुना है।

कर्म का पथ चुनकर जैसे यज्ञादि क्रियाओं में फँसना पड़ता है, उपासना का पथ ग्रहण कर जैसे मूर्तिपूजा को स्वीकार करना पड़ता है, उसी प्रकार ज्ञान मार्ग में आध्यात्मिक पिपासा की शांति के लिए चिंतन-पद्धति का सहारा लेना पड़ता है। चिंतन के लिए शुद्ध मन और निर्मल बुद्धि की आवश्यकता होती है।

यह बहुत बड़े सन्तोष की बात है कि महादेवी जी के काव्य में सन्तों और सूफियों की भाँति हठयोग की क्रियाओं के रूखे वर्णन नहीं पाए जाते और न उन विचित्र-विचित्र नाम वाले लोकों के वर्णन ही पाए जाते हैं जिनके दर्शन कबीर को अपने अंतर में हुए थे। इससे उनकी रचनाएँ शुद्ध काव्य के अन्तर्गत रही हैं। कवयित्री ने जो अपने लिए ज्ञान का पथ चुना है, वह शुष्क

ज्ञान का पथ नहीं है। जब हम उन्हें ब्रह्म की उपासिका या प्रेमिका कहते हैं, तब इन शब्दों में यह कह चुके होते हैं कि उनका मस्तिष्क ज्ञान की ओर झुका रहने पर भी हृदय उपासकों की सी आर्द्रता लिए हुए है।

महादेवी जी ने अपनी साधना का जो आदर्श चुना है, वह बहुत ऊँचा और श्रेयस्कर है। वह है हिमगिरि। हिमगिरि की दृढ़ता, राग-हीनता और सबसे अधिक दयार्द्रता अपनी समता नहीं रखती। वह व्यक्तिगत रूप से उदासीन रहकर संसार का कल्याण करता है। न तो प्रभात की स्वर्ण-वर्णी कोमल किरणें उसके चारों ओर बिखरी रहने पर उसके हृदय को आकर्षित कर सकती हैं और न घोर नाद करता भयंकर वज्रपात उसके शीश को झुका सकता है। वह अपनी समाधि में युग-युग से लीन है। पर उसके पत्थर हृदय से धाराएँ फूटकर संसार के ताप का शमन करतीं और प्यास बुझाती हैं। हिमगिरि की यह दुहरी महानता है। सुख-दुःख से इसी प्रकार प्रभावित न होकर अपने आँसुओं से संसार के ताप को सींचने की कामना कवयित्री ने की है—

हे चिर महान्।

यह स्वर्णरश्मि छू श्वेत भाल,
बरसा जाती रंगीन हास;
सेली बनता है इंद्रधनुष,
परिमल मल मल जाता बतास!
पर रागहीन तू हिमनिधान!

नभ में गर्वित झुकता न शीश,
पर अंक लिए है दीन क्षार;
मन गल जाता नत विश्व देख,
तन सह लेता है कुलिश-भार।
कितने मृदु कितने कठिन प्राण!

टूटी है कब तेरी समाधि,
झंझा लौटे शत हार हार;

बह चला दृगों से किंतु नीर,
सुनकर जलते कण की पुकार !
सुख से विरक्त दुख में समान !
मेरे जीवन का आज मूक,
तेरी छाया से हो मिलाप;
तन तेरी साधकता छू ले,
मन ले करुणा की थाह नाप !
उर में पावस दृग में विहान !

महादेवी जी का मार्ग क्योंकि विवेक का मार्ग है अतः 'प्रतिमा अल्प-बुद्धीनाम्' वाली उक्ति का अनुमोदन-सा करते हुए उन्होंने स्थूल पूजा की अनावश्यकता समझी है। यह उनकी बहुत बढ़ी उदारता है कि उन्होंने अपनी बात की पुष्टि में खंडनात्मक दुर्वृत्ति की गंध नहीं आने दी। मूर्त्ति पूजा में जिन बाह्य उपकरणों की आवश्यकता होती है उन्हें अपने शरीर में ही दिखा दिया है। इस मन्दिर में सभी का प्रवेश है, यह सामग्री सभी को सुलभ है, प्रियतम के दर्शन यहाँ सभी को हो सकते हैं, यह उपासना प्रतिक्षण चलती रहती है—

क्या पूजा क्या अर्चन रे !
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे !
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे !
पदरज को धोने उमड़ आते लोचन में जल-कण रे !
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे !
स्नेह भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक-मन रे !
मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे !
धूप बने उड़ते रहते हैं प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे !
प्रिय प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे !

इस कठिन साधना-मार्ग को स्वीकार करने पर बुद्धि जैसे-जैसे चिंतन की गहराई में उतरती है, वैसे-वैसे आत्मा के रहस्यों को खोलती जाती है।

इस सम्बन्ध में 'रश्मि', 'नीरजा', 'सांध्यगीत' और 'दीपशिखा' की प्रथम रचनाएँ ध्यान से पढ़ने योग्य हैं। उनमें अपने काव्य ग्रन्थों को प्रारम्भ करने से पहले महादेवी जी ने साधना-पथ की उस दूरी का परिचय दिया है जहाँ वे एक विशेष काल में पहुँच गई हैं। 'रश्मि' की प्रथम रचना को ही लीजिए।

चुभते ही तेरा अरुण बान!
बहते कन कन से फूट फूट,
मधु के निर्झर से सजल गान!

इन कनकरश्मियों में अथाह,
लेता हिलोर तम-सिंधु जाग;
बुद् बुद् से बह चलते अपार,
उसमें विहगों के मधुर राग;
बनती प्रवाल का मृदुल कूल,
जो क्षितिज-रेख थी कुहरम्लान!
नव कुन्द-कुसुम से मेघ-पुञ्ज,
बन गए इंद्रधनुषी वितान;
दे मृदु कलियों की चटक, ताल,
हिम-विंदु नचाती तरल प्राण;
धो स्वर्णप्रात में तिमिर गात,
दुहराते अलि निशि-मूक तान।
सौरभ का फैला केश-जाल,
करतीं समीर परियाँ विहार;
गीली केसर-मद झूम-झूम;
पीते तितली के नव कुमार;
मर्मर का मधुसंगीत छेड़—
देते हैं हिल पल्लव अजान!

फैला अपने मृदु स्वप्नपंख
उड़ गई नींदनिशि क्षितिज-पार;
अधखुले दृगों के कंज कोष—
पर छाया विस्मृति का खुमार;
रँग रहा हृदय ले अश्रु हास,
यह चतुर चितेरा सुधि विहान !

वैसे इस रचना में प्रभात का एक चित्र अंकित किया गया है। सामान्य रूप से तो किरणों का अन्धकार, क्षितिज, बादलों आदि पर प्रभाव दिखाया गया है और नींद के टूटने पर कलियों के चटकने, ओस-विंदु के नृत्य करने, भौरों के गूँजने, पल्लवों की मर्मर-ध्वनि फूटने, वायु में गन्ध भरने, कमलों के खुलने आदि की चर्चा है। पर पूरी रचना में एक आध्यात्मिक स्थिति का भी वर्णन है। 'रश्मि' से तात्पर्य ज्ञान की किरण का भी है। प्रकृति-पक्ष को हटाकर देखते हैं तो और ही अर्थ पंक्तियों के शब्द-शब्द से खुल पड़ता है। योगाभ्यास करते-करते योगी लोग जिस स्थिति का अनुभव करते हैं, उस स्थिति को महादेवी जी ने चिंतन से प्राप्त किया। हृदय में ज्ञान के बाण के चुभते ही शरीर का रोम-रोम आनन्द का अनुभव करने लगा। आगे ज्ञान के प्रकाश में अज्ञान के समुद्र के घुलने, मीठी वासनाओं के बहने, मलिन हृदय के प्रकाशित होने, सात्विक भावों के उस रँग में रँगने, नवीन भावों पर ज्ञान के शासन होने, अज्ञान की रजनी में सोने वाले मन के उस प्रकाश में स्नान कर ब्रह्म-प्रेम के गीत गुनगुनाने, चेतना के ज्ञान के रस में सराबोर होने और सांसारिक सुख के स्वप्नों के विलीन होने की गाथा है। इस रचना में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य जो पंक्तियाँ हैं वे ये हैं—

अधखुले दृगो के कंज कोष पर
छाया विस्मृति का खुमार।

कहना पड़ता है कि महादेवी ने यहीं क्या, कहीं भी अपनी अनुभूति पर संदेह करने का अवकाश नहीं दिया। पूर्णज्ञान सहसा किसी को नहीं हो जाता। ज्ञान के नयन-कंज खुलते-खुलते ही खुलते हैं। अतः अपने पूर्ण स्वरूप की विस्मृति

थोड़ी-बहुत बनी रहती है। इस सुधि से कि आत्मा परमात्मा की प्रेयसी है, हृदय में हास और रुदन दोनों भर जाते हैं—हास तो अपने परिचय की महत्ता के कारण और आँसू इसलिए कि इतने दिन व्यतीत होने पर भी यह सुधि सार्थक क्यों नहीं हुई!

रँग रहा हृदय ले अश्रु हास
यह चतुर चितेरा सुधि विहान!

'रश्मि' की रचनाओं के दीर्घ-पथ को पार कर जब हम 'नीरजा' के प्रारम्भ में पहुँचते हैं तब हमें वे इस स्थिति में मिलती हैं कि एक ओर अपने कठोर पथ को अपने आँसुओं से जहाँ उन्होंने निरन्तर कोमल बनाया है, वहाँ अपने अनासक्त निर्मल हृदय के सम्बन्ध में भी उन्हें यह घोषणा करने का उचित गर्व प्राप्त है कि—

इसमें न पंक का चिह्न शेष,
इसमें न ठहरता सलिल लेश,
इसको न जगाती मधुप भीर।

यदि हृदय से कामनाएँ धो दी हैं, यदि संसार का वैभव इसमें आकर्षण उत्पन्न नहीं कर सकता, यदि यह विश्वासघाती सांसारिक प्रेमियों की बनावटी गुनगुनाहट सुनने को बिल्कुल उत्सुक नहीं है, तो क्या जड़ हो गया है? नहीं। किसी और के लिए उपयुक्त बनाया जा रहा है। 'नीरजा' इसी की परिचायिका है। 'सांध्यगीत' तक पहुँचते-पहुँचते उनकी निष्ठा एकदम दृढ़ हो गई है—ध्रुव आज बना स्मृति का चल क्षण। वहाँ उनके भावों में कुछ अधिक गम्भीरता आ गई है। यौवनकाल की प्रतीक्षा में पराजित होते रहने पर भी एक प्रकार की अहं-भावना रहती है कि अब नहीं तो किसी-न-किसी दिन प्रेमपात्र विवश होकर आवेगा। इस प्रकार की अहं-भावना 'नीरजा' के गीतों तक है। 'सांध्यगीत' में यह अभिमान विनय में परिवर्तित होता प्रतीत होता है। प्रथम रचना में ही सांध्यगगन के साथ जीवन की एकता स्थापित करते हुए कहा गया है—

उतरो अब पलकों में पाहुन।

'सांध्यगीत' की रचनाएँ एक मिलनोत्कंठिता नायिका के हृदय से निस्सृत विह्वल गीत-निर्झर हैं—

पाथेय मुझे सुधि मधुर एक
है विरह-पंथ सूना अपार।
फिर कौन कह रहा है सूना
अब तक मेरा अभिसार नहीं!

यद्यपि मिलन अभी दूर है; पर 'सांध्यगीत' की अन्तिम रचना में निराशा के इस घोर अन्धकार के बीच सान्त्वना की किरण का धुँधला प्रकाश अवश्य विद्यमान है—

तिमिर में वे पद-चिह्न मिले।
अलसित तन में विद्युत सी-भर,
वर बनते मेरे श्रम—सीकर,
एक एक आँसू में शत शत
शतदल-स्वप्न खिले!
सजनि प्रिय के पद चिह्न मिले!

इन पद-चिह्नों को पाकर प्रेम के आलोक में महादेवी जी का साहस बहुत बढ़ चला है, जिसकी दृढ़ता का परिचय 'दीपशिखा' के गीतों में बारम्बार मिलता है। आँसुओं के भीतर से काँटों के ऊपर होकर, चिनगारियों को मुट्ठी में भरकर, पतझर को सहकर, अन्धकार को जीतकर, अग्निपथ को पार कर, प्रलय से होड़ लगा कर यह साधिका अपने गन्तव्य स्थान की ओर बढ़ी चली जा रही है—अपने चरणों की गति पर जिसे अटल विश्वास है, दयाभिक्षा जैसी वस्तु से जो कोसों दूर भागती है, निरन्तर चलना ही जिसका लक्ष्य है और अपने हृदय की बात को जो अभी पूर्ण रूप से नहीं कह पाई—

पर न मैं अब तक व्यथा का छन्द अन्तिम गा चुकी हूँ।

आत्मा के गीत

काव्य जीवन की भावपूर्ण अभिव्यक्ति है। यह जीवन बहुत व्यापक तत्व है। इसके दो रूप हैं—लौकिक और अलौकिक। जब भाव का विषय भौतिक होगा तब लौकिक, पर जब आध्यात्मिक होगा तब अलौकिक काव्य की सृष्टि होगी। हिन्दी में वीरगाथाकाल, रीतिकाल, भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग और प्रगतिवाद-युग का काव्य लौकिक है, जब कि भक्तिकाल का सम्पूर्ण और छायावाद काल का कुछ अंश आध्यात्मिक। वीरगाथाकाल में राजकुमारों के आकर्षण, राजकुमारियों के अपहरण एवं अपमान, प्रतिशोध, शौर्य और युद्ध की घटनाएँ मनुष्य के वीरभाव और प्रेम की घटनाएँ ही हैं। रीतिकाल में परकीया का प्रेम एवं नीति-सम्बन्धी सूक्तियाँ भी संसार की क्रीड़ा, विनोद और बुद्धि-वैभव की परिचायक रहेंगी। पिछले सौ वर्ष के काव्य में समाज-सुधार की बहुमुखी प्रवृत्ति, स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए बलिदान की कामना, श्रमिकों और किसानों की हीन स्थिति के चित्र, प्रकृति के असंख्य रम्य और परिचित रूप, युग के अनुरूप संयोग-वियोग के अगणित प्रसन्न एवं अवसादपूर्ण प्रसंग लौकिकता की ही संज्ञा पायेंगे। चंद गनिक और भूषण; बिहारी, देव और ठाकुर; हरिश्चन्द्र, गोपालशरणसिंह और दिनकर; बच्चन, नागार्जुन और अज्ञेय सभी लौकिक-काव्य के प्रणेता हैं। इसी अर्थ में कबीर, तुलसी, सूर, मीरा, रसखान और महादेवी के काव्य को हम नहीं ले सकते। कुछ कवि ऐसे हैं जिन्होंने लौकिक और अलौकिक काव्य की रचना समान शक्ति से की है जैसे जायसी; मैथिली शरण गुप्त, प्रसाद, निराला और पंत ने।

इस प्रकार कई कोटि के कवियों की कल्पना की जा सकती है—

(१) वे कवि जिनका मन केवल लोक में रमा है जैसे बच्चन।

(२) वे कवि जो भक्ति और अध्यात्म की आड़ में मन की वासना को व्यक्त करते हैं जैसे देव।

(३) वे कवि जो अध्यात्म और संसार में समान रुचि रखते हैं जैसे पंत।

(४) और वे कवि जिनके जीवन की साधना मात्र अध्यात्म है जैसे महादेवी।

अध्यात्मवादी कवि की पहली पहचान तो यह है कि उसके काव्य का आलम्बन पारलौकिक सत्ता होगी। उसके प्रति जो भावनाएँ व्यक्त होंगी वे वासना से हीन होंगी। पवित्र और निर्मल भावधारा उस काव्य में प्रवाहित मिलेगी। उसका प्रभाव मानव-मन पर यह पड़ेगा कि वह स्थूल कामनाओं से ऊँचा उठकर सूक्ष्म वातावरण के सम्पर्क में आवेगा और मानसिक उत्तेजना से भिन्न आत्मिक आनन्द की उसे उपलब्धि होगी। लौकिक काव्य की अपेक्षा आध्यात्मिक काव्य का रस निश्चित रूप से भिन्न प्रकार का होता है जिसे पहचानने में रसज्ञ पाठक कभी-भूल नहीं करता। भावनाएँ चाहे उच्च कोटि की हों, चाहे निम्न कोटि की, उनका प्रसार करने वाला प्राणी ही है; पर दोनों प्रकार की भावनाओं के तत्व भिन्न होते हैं, अभिव्यक्तियाँ भिन्न प्रकार की होती हैं और भिन्न होते हैं उनके आलम्बन। इस प्रकार लौकिक और अलौकिक भूमियों में भेद यही है कि उनमें विचरण करने वाला यद्यपि मनुष्य ही होता है; पर उनके लक्ष्य भिन्न होते हैं; इसी से भिन्न कोटि के काव्य की सरिताएँ वहाँ भिन्न रूप, रस और तरंगों को लेकर बहती रहती हैं।

रहस्य-व्यापार क्योंकि प्रणय-व्यापार है; अतः पहिली विशेषता तो इन गीतों की यह होनी चाहिए कि आत्म-निवेदन किसी अलौकिक शक्ति के प्रति हो। महादेवीजी के काव्य-ग्रन्थों में हम यही बात पाते हैं। सभी कहीं महादेवी का अराध्य ईश्वर ही है। अपने प्रेमी की विशेषता उन्होंने यह बतलायी है कि उसने विश्व का निर्माण किया है। प्रकृति के परिवर्तशील असीम सौंदर्य का वह स्रष्टा है। देशकाल की परिधि में व्यथासिक्त हृदय को लेकर मनुष्य जो अंतहीन यात्रा के पथ पर चल पड़ा है वह उसी को खोजने के लिए। स्वभाव से अविकारी होने पर भी समस्त परिवर्तनों का आधार वही है। उस विराट में ही असंख्य संसार बनते-बिगड़ते रहते हैं। स्पष्ट है कि यह विशेषता किसी संसारी की नहीं हो सकती—

(क) शून्यता में निद्रा की बन,

उमड़ आते ज्यों स्वप्निल घन,
पूर्णता कलिका की सुकुमार,
छलक मधु में होती साकार !
हुआ त्यों सूनेपन का भान,
प्रथम किसके उर में अम्लान ?
और किस शिल्पी ने अनजान,
विश्व प्रतिमा कर दी निर्माण ?
काल-सीमा के संगम पर,
मोम-सी पीड़ा उज्ज्वल कर,
उसे पहनाई अवगुंठन,
हास औ' रोदन से बुनबुन !

(ख) न थे जब परिवर्तन दिन-रात
नहीं आलोक-तिमिर थे ज्ञात,
व्याप्त क्या सूने में सब ओर
एक कंपन थी, एक हिलोर ?
न जिसमें स्पंदन था न विकार
न जिसका, आदि न उपसंहार,
सृष्टि के आदि-आदि में मौन
अकेला सोता था वह कौन ?

(ग) मेरा प्रतिपल छू जाता है
कोई कालातीत;
स्पंदन के तारों पर गाती
एक अमरता गीत !

दूसरी विशेषता यह कि उसका सौंदर्य असीम है। सच बात यह है कि सृष्टि का सौंदर्य उसके सौंदर्य के कण की भी समता नहीं कर सकता। प्रकृति और प्राणी का सौंदर्य सब उसी का दिया हुआ है। यह विशेषता भी किसी साधारण संसारी की नहीं हो सकती—

(१) सुषमा का कण एक खिलाता
राशि राशि फूलों के बन।

(२) तेरी आभा का कण नभ को
देता अगणित दीपक दान;
दिन को कनक राशि पहनाता,
विधु को चाँदी का परिधान।

(३) तेरा मुख सहास अरुणोदय,
परछाईं रजनी विषादमय।

(४) दीपक में पतंग जलता क्यों ?
उजियाला जिसका दीपक में,
तुझमें भी है वह चिनगारी;
अपनी ज्वाला देख, अन्य की
ज्वाला पर इतनी ममता क्यों ?

तीसरी विशेषता है उस आराध्य का स्वभाव। यह प्रेम उच्चतम स्तर पर अनंत काल से चल रहा है और अनंत काल तक चलता रहेगा। एक ओर यह प्रेम प्रकृति और परमात्मा के बीच पाया जाता है, दूसरी ओर आत्मा और परमात्मा के बीच। एक प्रकार से यह कह सकते हैं कि प्रकृति का कण-कण उसके प्रेम में आबद्ध है। परमात्मा प्रेममय है, सृष्टि प्रेममय है और प्रेम से ही निर्मित हुई है मनुष्य की आत्मा। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यदि प्रेम न होता तो कुछ न होता। प्रेम की अनुभूति के लिए ही इस सृष्टि की रचना हुई। पर इस प्रेम की अभिव्यक्ति का सबसे प्रबल और स्पष्ट माध्यम बना मनुष्य। यदि वह न होता तो प्रेम का तत्व तो सृष्टि में समाहित रहता; पर भाषा के विकास के अभाव में उस प्रेम की अभिव्यक्ति इतने सुन्दर मार्मिक और कलात्मक ढंग से न हो पाती—

तुम हो विधु के बिंब और मैं
मुग्धा रश्मि अजान,

जिसे खींच लाते अस्थिर कर
कौतूहल के बाण;
कलियों के मधु प्याले से जो
करती मदिरा पान,
झाँक, जला देती नीड़ों में
दीपक सी मुसिकान!
लोल तरंगों के तालों पर
करती बेसुध लास,
फैलाती तम के रहस्य पर
आलिंगन का पाश;
ओस-धुले पथ में छिप तेरा
जब आता आह्वान,
भूल अधूरा खेल तुम्हीं में
होती अंतर्धान।

इस प्रकार जैसे तुलसी के राम अनंत शक्ति, सौंदर्य और शील के आगार हैं वैसे ही महादेवी का आराध्य अनंत शक्ति, सौंदर्य और प्रेम का अजस्र स्रोत।

प्रेमिका आत्मा है, यह भी महादेवी जी के गीतों से स्पष्ट हो जाता है। जहाँ उन्होंने अपना और अपने प्रेमी का संबंध स्पष्ट किया है वहाँ यह बात छिपी नहीं रहती कि यह संबंध आध्यात्मिक ही हो सकता है। लौकिक प्रेम में प्रेमी प्रेमिका का संबंध, तो इतना स्पष्ट होता है कि उसे और स्पष्ट करने की आवश्यकता ही नहीं होती अर्थात् उसका कोई दार्शनिक आधार नहीं होता। लौकिक प्रेम में प्रेमिका के लिए उपमान तो प्रकृति के तत्त्वों से जुटा लिए जाते हैं; पर उनमें दार्शनिक पुट देने की आवश्यकता नहीं होती। वहाँ प्रेमी-प्रेमी होता है, प्रेमिका-प्रेमिका। केवल आध्यात्मिक संबंध को ही घोषित और स्पष्ट करने की आवश्यकता पड़ती है। कबीर, सूर, तुलसी और मीरा आदि को बार-बार बतलाना पड़ा है कि वे दुलहिन, सखा, सेवक और प्रेमिका आदि

हैं। आध्यात्मिक संबंध भी क्योंकि लौकिक शब्दावली में ही व्यक्त करना पड़ता है, इसी से यह व्याख्या या स्पष्टता अनिवार्य हो उठती है, जिससे किसी प्रकार के संदेह या भ्रम को स्थान न रहे।

महादेवी जी ने जिन उपमानों का प्रयोग अपने प्रेमी के लिए किया है, वे कई श्रेणियों में विभाजित किए जा सकते हैं। पहले तो वे जिनसे यह प्रकट होता है कि मैं (आत्मा) तुम (परमात्मा) का अंश है—ऐसा अंश जो उसी जाति का है और अंत में कोई दूसरा नहीं, वही सिद्ध होगा। दूसरे, यह सृष्टि और कुछ नहीं है, उसका प्रतिबिंब मात्र है। यह अंशाशी और बिंब-प्रतिबिंब भाव जो केवल साधना-काल के लिए स्वीकार किया गया है और सिद्धि की अवस्था में मिट जायगा, अद्वैत-भाव की पुष्टि करता है। इस प्रकार संबंधों में दार्शनिकता की यह वृत्ति उन्हें अलौकिकता की भूमि में प्रतिष्ठापित करती है। जीवन और जगत के संबंध में महादेवी जी की इन भावनाओं पर ध्यान दीजिए—

(क) विश्व में यह भोला जीवन—
स्वप्न जागृति का मूक मिलन,
बाँध अंचल में विस्मृति धन
कर रहा किसका अन्वेषण।

(ख) कुहरे-सा धुँधला भविष्य है,
है अतीत तम घोर;
कौन बता देगा जाता यह
किस अतीत की ओर।

(ग) स्वर लहरी मैं मधुर स्वप्न की
तुम निद्रा के तार,
जिसमें होता इस जीवन का
उपक्रम उपसंहार।

(घ) जन्म ही जिसको हुआ वियोग
तुम्हारा ही तो हूँ उच्छ्वास;

चुरा लाया जो विश्व-समीर
वही पीड़ा की पहली साँस !
छोड़ देते क्यों बारम्बार,
मुझे तम से करने अभिसार !

(ङ) युग-युगांतर की पथिक मैं छू कभी लूँ छाँह तेरी,
ले फिरूँ सुधि दीप-सी, फिर राह में अपनी अँधेरी ।

(च) तोड़ कर वह मुकुर जिसमें रूप करता लास,
पूछता आधार क्या प्रतिबिंब का आवास ?
उर्मियों में झूलता राकेश का आभास,
दूर होकर क्या नहीं है इंदु के ही पास ?
इस हमारी खोज में इस वेदना में मौन,
जानते हो खोजता है पूर्ति अपनी कौन ?

आध्यात्मिक काव्य की एक तीसरी पहचान है उसकी अभिव्यंजना-प्रणाली । सांसारिक प्राणियों के प्रति जब लौकिक भावनाएँ व्यक्त होंगी तो वे और प्रकार की होंगी और अलौकिक व्यक्तित्व के प्रति जब आध्यात्मिक भावनाएँ प्रकट होंगी तो उनका रूप कुछ दूसरा ही होगा । प्रेम के क्षेत्र में स्थूल के प्रति आकर्षण, अश्लील वर्णनों, आलिंगन-चुंबन-संभोग की चर्चा एवं उत्तेजक और मादक अभिव्यक्तियों की कोई कमी नहीं पायी जाती । इसकी तुलना में महादेवी का काव्य अपना पृथक ही स्थान रखता है । वह वासना-विहीन, सांकेतिक, सूक्ष्म और पावन है। पाठक के मन को वह शांति, आलोक और माधुर्य से भर देता है । मानवीय चेतना को वह एक उच्च स्तर पर ले जाकर उसे आध्यात्मिक आभा से जगमगा देता है और हमारे हृदय को अनिर्वचनीय आनंद के रस से परिप्लावित कर जीवन के कुछ अमूल्य और असाधारण क्षणों के दर्शन हमें कराता है । इस काव्य के सम्पर्क में आकर प्रत्येक प्राणी का हृदय उस भावना को जगते पाता है जो प्रायः सुप्त रहती है और केवल आध्यात्मिक वातावरण में ही आँखें खोलती है । सबसे बड़ी बात यह है कि तब प्राणी प्रकृति के कण-कण में व्याप्त प्रेम के निगूढ़ रहस्य के

दर्शन कर उसे एक व्यापक प्रेम-व्यापार के अंग के रूप में देखने लगता है। इन सभी स्थितियों के परिचय के लिए महादेवी जी के काव्य से कुछ उद्धरण लीजिए—

(क) विश्व-शावक से जिस दिन मूक
पड़े थे मेरे चंचल प्राण,
अपरिचित थी विस्मृति की रात
नहीं देखा था स्वर्ण विहान !
रश्मि बन तुम आये चुपचाप
सिखाने अपने मधुमय गान;
अचानक दीं वे पलकें खोल
हृदय में वेध व्यथा का बान—
हुए फिर पल में अंतर्धान !

(ख) सजनि कौन तम में परिचित-सा, सुधि-सा, छाया-सा आता ?
सूने में सस्मित चितवन से, जीवन-दीप जला जाता !
घन तम में सपने सा आकर,
अलि कुछ करुण स्वरों में गाकर
किसी अपरिचित देश बुलाकर,
पथ-व्यय के हित अञ्चल में कुछ बाँध अश्रु के कन जाता।

(ग) नींद में सपना बन अज्ञात !
गुदगुदा जाते हो जब प्राण,
ज्ञात होता हँसने का मर्म
तभी तो पाती हूँ यह जान,
प्रथम छूकर किरणों की छाँह
मुस्करातीं कलियाँ क्यों प्रात,
समीरण का छूकर चल छोर
लोटते क्यों हँस हँस कर पात !
हृदय में खिल कलिका सी चाह

दृगों को जब देती मधुदान,
छलक उठता पुलकों से गात
जान पाता तब मन अनजान,
गगन में हँसता देख मयंक
उमड़ती क्यों जलराशि अपार,
पिघल चलते विधुमणि के प्राण
रश्मियाँ छूते ही सुकुमार !

(घ) क्यों मुझे प्रिय हों न बंधन !
बीन-बंदी तार की झंकार है आकाशचारी;
धूलि के इस मलिन दीपक से बँधा है तिमिरहारी;
बाँधती निर्बन्ध को मैं
वंदिनी निज बेड़ियाँ गिन !

दुःखवाद

अन्य आक्षेपों की भाँति आलोचकों और सामान्य पाठकों ने महादेवी जी की रचनाओं पर सबसे बड़ा आक्षेप यह किया कि वे पीड़ा के ही गीत गाती रहती हैं। उनकी पीड़ा-भावना के आधार पर ही किसी-किसी पुस्तक में 'दुखिया कवियों की टोली' का व्यंग्य भरा नामकरण संस्कार हुआ। प्रश्न यह है कि यह पीड़ा, जिसके कारण उनके कवि-जीवन को उपहास-भरी दृष्टि से देखा गया, महादेवी जी को इतनी प्रिय क्यों हुई ?

प्रेम का जीवन वेदना का जीवन है। इस सम्बन्ध में लौकिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन में स्थूल दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। सामान्य जीवन में जिस प्रकार एक प्रेमी और एक प्रेम-पात्र होता है, उसी प्रकार उठे हुए जीवन में एक 'मीरा' और एक 'गिरिधर नागर', 'एक कबीर' और एक 'साहिब', एक 'महादेवी' और एक 'चिर सुन्दर' होता है। लौकिक प्रेम-व्यापार में प्रेमी और प्रेमिका आध्यात्मिक प्रेम-व्यापार से कम पीड़ा का अनुभव करते होंगे, यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। ब्रजभाषा के एक कवि ने 'जाके लगै सोई जाने व्यथा' का अनुभव-जन्य अकाट्य तर्क उपस्थित कर 'पर पीर में कोउ उपहास करै ना' की विनय की है। वैसे तो लौकिक जीवन में ही पीड़ा अभिशाप बनकर आती है; पर रहस्यवादी का एक और दुर्भाग्य है। उसका प्रियतम निराकार और अलक्ष्य है। पीड़ा के पथ को पार करने पर भी महादेवी उर्मिला की भाँति लक्ष्मण से मिल नहीं सकतीं, गोपा की भाँति गौतम के दर्शन कर नहीं सकतीं, लैला की भाँति अपना अस्तित्व खोए बिना मजनूँ में घुल-मिल नहीं सकतीं। लौकिक प्रेम में विरह काल की एक सीमा है। हो सकता है कि यह सीमा जीवन-व्यापिनी हो। पर इससे आगे यह नहीं बढ़ती। अपने पिछले जन्म का किसी को स्मरण नहीं रहता। रहस्यवादी पर दुहरी चोट पड़ती है। एक तो वह अपने प्रियतम

की धुँधली सी झलक देख पाता है और दूसरे वह जन्म-जन्मांतर की प्रेम-वेदना का अनुभव करता है। अतः उसकी पीड़ा का पारावार नहीं। सच तो यह है कि वह अपनी समस्त पीड़ा और व्याकुलता को व्यक्त नहीं कर सकता। महादेवी जी ने फिर भी बहुत संयम से काम लिया है। विरह का इतना लम्बा-चौड़ा वर्णन करने पर भी इतने संयम से काम लेने वाला हिन्दी में एक भी सम-सामयिक कवि नहीं है—

मेरी आहें सोती हैं
इन ओठों की चोटों में।

पीड़ा की उत्पत्ति का कारण है प्रिय का दर्शन। प्रथम दर्शन का 'यामा' में कवयित्री ने तीन-चार स्थलों पर संकेत मात्र किया है। परन्तु इन चार-पाँच गीतों में भी इस दर्शन-संकेत तक पहुँचने से पहिले चार मुख्य बातें पाई जाती हैं। पहिली बात है प्रकृति के रम्य दृश्य और उसमें प्रेम-व्यापार के दर्शन जैसे कलिका से वसन्त और रजनी से सुधाकर की छेड़-छाड़; दूसरी बात है प्रकृति की वस्तुओं में व्याप्त एक विषाद का वातावरण जिसमें प्रेमलीला को सफलता नहीं मिलती जैसे लहरों का चंद्रमा को छूने के लिए मचलकर उठना और तट से टकराकर लौट आना; तीसरी बात है महादेवी के हृदय का प्रकृति दर्शन से मुग्ध होना और चौथी बात है उनका अपने हृदय में एक प्रकार के अभाव का अनुभव करना। इन चारों बातों पर यदि विचार करें तो प्रेमोद्भव के लिए मनोवैज्ञानिक क्रम की उपलब्धि होती है। कवि भी एक संसारी जीव है; अतः प्रारम्भ में प्रकृति की छवि से उसका आकृष्ट होना अत्यन्त स्वाभाविक है। प्रकृति के जीवन पर दृष्टि डालने से जो प्रेमलीला के दृश्य सामने आए हैं वे कवि के हृदय की सोती प्रेम-भावना को जगाने के लिए उद्दीपन का कार्य करते हैं, और उनका लक्ष्य ठीक बैठते ही महादेवी अपने अन्तर में एक प्रकार के अभाव का अनुभव करने लगती हैं। ठीक ऐसे समय जब उनका हृदय किसी का स्वागत करने के लिए उत्सुक हो उठा और उपयुक्त बन चुका, तब कोई धुँधली-सी झलक दिखाकर और चुपचाप मानस को जकड़ कर चला जाता है—चला जाता है चिरकाल के लिए अवहेलना

करके! इस असफलता का संकेत भी प्रकृति ने पहिले से ही कर दिया था।

(पीड़ा को ग्रहण करने का परिणाम यह हुआ कि सुख का जीवन नष्ट होगया। लौकिक-सुख स्वप्न हो गया। लौकिक सुख की हानि जैसे सबको अखरती है, वैसे ही थोड़ी बहुत महादेवी जी का भी अखरी है। जिस मानस में उल्लास और न जाने किन-किन आशाओं का वास था उसमें रुदन समा गया, जिस प्याली में मस्ती की मदिरा भरी थी उसे पीड़ा से भर दिया गया। इस पीड़ा की गहराई को मापने का कोई मापदण्ड नहीं है। महादेवी जी को जब कोई बात कहनी होती है तब वे प्रकृति की ओर अपनी दृष्टि उठाती हैं। पर क्या शीर्ण पुष्प, आहें भरता पवन, विषाद-वंदना संध्या, रीते मेघ उनके हृदय की पीड़ा के परिमाण को व्यक्त कर सकेंगे? कल्पना कीजिए उस नव-वधू की जिसकी लाज के बोल भी नहीं खुले थे कि उसका निष्ठुर पति उसे सदैव को त्याग कर चल गया—

इन ललचाई पलकों पर
पहरा था जब व्रीड़ा का,
साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीड़ा का।

उस सोने के सपने को
देखे कितने युग बीते,
आँखों के कोष हुए हैं
मोती बरसा कर रीते।

अतः पीड़ा आरोपित नहीं है, आई है। और वह अपनाई इसलिए गई है कि 'प्रिय' की दी हुई है। इसलिए वह मधुर भी हुई—'मधुर मुझको हो गए सब मधुर प्रिय की भावना ले।' पर तर्क-शील बुद्धि को सन्तोष हो तब न? अतः उनके गीतों में कहीं कहीं पीड़ा भी भाव-मिश्रित चिंतन का एक विषय है।

इसके लिए महादेवी जी ने पीड़ा का सुख-पक्ष भी स्पष्ट किया है और उसकी महत्ता भी दृढ़ स्वर से घोषित की है। प्रेम की पीड़ा अन्य अभावों के

दुःख से इस बात में विलक्षण है कि वह जलाकर भी शीतलता प्रदान करती है। पीड़ा को उन्होंने मधुमय, मधुर, मधु-मदिरा की धार तथा चन्दन-सी कहा है। ये विशेषण भावावेश में नहीं निकले। पीड़ा की आनन्द-विधायिनी शक्ति को प्रत्यक्ष करने के लिए उन्होंने यह तर्क उपस्थित किया है कि ब्रह्म को छूने का अर्थ है मिट जाना। मोक्ष अस्तित्व की हानि है। प्रेम का आनन्द उसी समय तक उठाया जा सकता है जब तक अस्तित्व है। अतः प्रेम की पीड़ा से भरा अस्तित्व ही सदा बना रहे, इसी में आनन्द है। एक गीत में 'अमरों के लोक' को उन्होंने इसीलिए ठुकरा दिया है कि उसमें 'वेदना' नहीं है। वेदना की महत्ता तीन कारणों से है। वेदना अन्तःकरण को शुद्ध करती है, वह हमें प्रिय के अधिक निकट खींचती है और स्वयं उस प्रियतम की शोभा इसी में है कि उसके लिए कोई वेदना का अनुभव करने वाला हो। सोना तप कर ही उज्ज्वल होता है। हृदय भी प्रेम में जितना तपता है उतना निखरता है। जल जैसे सुमन की रज को धो देता है, उसी प्रकार आँसू भी मन-सुमन के वासनात्मक मैल को धो डालते हैं, यह कौन नहीं जानता? दुःख की जड़-सांसारिक ममता-का विनाश होकर अलौकिक प्रेम की आभा अंतर में फूटती है। जिसकी पुकार इस विश्वनियंता के हृदय को भी विह्वल कर डालती है। प्राणी का सबसे बड़ा पुरुषार्थ आत्मा-परमात्मा का मिलन ही तो है। महादेवी जी इतने से ही संतुष्ट नहीं होतीं। मनीषियों का कहना है 'यदि वह न होता तो कुछ न होता।' महादेवी प्रेम के अभिमान से भर कर कहती हैं, "तुम्हें गर्व किस बात का है? यदि मैं तुम्हें प्रेम न करती तो तुम्हें कोई जानता तक नहीं।" इससे पता चला कि जो प्रेम करता है वह भी मानो एक बहुत बड़ा अहसान करता है—

चिंता क्या है हे निर्मम
बुझ जाये दीपक मेरा;
हो जायेगा तेरा ही
पीड़ा का राज्य अँधेरा!

महादेवी जी की पीड़ा-भावना पर एक आक्षेप किया जा सकता है

कितना ही बड़ा साधक हो उसकी अन्तिम अभिलाषा होती है साध्य से एका-कार होने की। उस दशा में पीड़ा शांत हो जानी चाहिये। साधन कितना ही मूल्यवान हो, साध्य का स्थान नहीं ले सकता। यदि सभी प्रेमियों की भाँति महादेवी इस निर्णय पर पहुँची हैं कि प्रियतम तक पहुँचने का मार्ग पीड़ा के भीतर से गया है—पथ में बिखरा शूल, बुला जाते क्यों दूर अकेले—तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं। पर पथ पार कर लेने पर भी काँटों को कलेजे से चिपटाए रखने की, पीड़ा के पल्ले को न छोड़ने की हठ कैसी है? प्रत्येक आलोचक पूछता है ऐसी बात वे कैसे कहती हैं?

> पर शेष नहीं होगी यह,
> मेरे प्राणों की क्रीड़ा।
> तुमको पीड़ा में ढूँढा,
> तुम में ढूँढूँगी पीड़ा।

ये पंक्तियाँ उनकी प्रथम कृति 'नीहार' की हैं। उस समय हृदय का घाव हरा था। ऐसी अवस्था में प्रत्येक चोट खाए प्रेमी को ऐसा लगा करता है मानो उसके दुःख का कभी अन्त नहीं होगा, ऐसा लगा करता है मानो जो पीड़ा आज उसे मिली है वह सृष्टि के प्रारम्भ से न किसी को मिली और न भविष्य में किसी को मिलेगी। यदि उसका वश चले तो अपनी इस पीड़ा की गाथा को वह समुद्र की एक-एक लहर पर, मरुस्थल के एक-एक रजकण पर, पृथ्वी के एक-एक तृण पर, गगन के एक-एक उडुगन पर अङ्कित कर आवे। यही पीड़ा प्रिय की स्मृति को तीव्रता प्रदान करती हुई उससे मिलाती भी है; अतः दूसरी बात कृतज्ञता के उस आवेश का परिचय देती है जिसमें कबीर ने कहा था—"गुरु गोविन्द दोनों खड़े का के लागूँ पाय, बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दिये मिलाय" कृतज्ञता की अति की ऐसी भावना कभी-कभी उठती है। अन्तिम पीड़ा शब्द का अर्थ है 'पीड़ामय हृदय।' जिसके लिए इतनी पीड़ा सही है, उस निष्ठुर के हृदय में भी कभी दर्द उठता है या नहीं यह जानने की कामना भी अत्यन्त स्वाभाविक है। जिस पीड़ा ने महादेवी जी को उस निठुर से मिलाया है, उसकी प्राप्ति पर वे अपने साथ उपकार करने

वाली को भूल जायँ, इतनी अकृतज्ञ महादेवी जी नहीं हैं। पर लक्ष्य 'तुम' ही है, पीड़ा नहीं।

उस समय से अब तक यद्यपि उनकी अवसाद-भावना की छाया पर आह्लाद की किरण-रेखाएँ पड़ती रही हैं, पर जो मानसिक स्थिति इन पंक्तियों में व्यक्त हुई है, उसमें बहुत कम कमी आई है। महादेवी जी ने मुक्ति की कामना कभी प्रकट नहीं कीं। वे चिर-साधिका बनी रहना पसन्द करती हैं। 'चिर बटोही मैं' 'भाती तम की मुक्ति नहीं', 'प्यास ही जीवन', 'चिनगारी का पी मधुरस' आदि खण्ड-पंक्तियों से यह बात स्पष्ट है। उनका हृदय कुछ इस प्रकार का बना हुआ है कि उसमें मिलन की तीव्र आकांक्षा तो है; पर निकट पहुँचकर जिसे प्यार करता है उसे छूने से डरता है—

(क) रंगमय है देव दूरी
छू तुम्हें रह जायगी
यह चित्रमय क्रीड़ा अधूरी
दूर रहकर खेलना पर मन न मेरा मानता है।

(ख) विरह का युग मिलन का पल,
मधुर जैसे दो पलक चल,
एकता इनकी तिमिर, दूरी खिलाती रूप शतदल।

नीचे की पंक्तियाँ देखिये—

तुम मानस में बस जाओ
छिप दुख की अवगुंठन से
मैं तुम्हें ढूँढ़ने के मिस
परिचित होलूँ कण-कण के

'रश्मि' की यह रचना पूरी पढ़ने योग्य है। इसमें कामनाओं की तृप्ति से असन्तोष और अतृप्ति से प्रेम प्रकट किया गया है। तृप्ति का अर्थ है रुकना, अतृप्ति का अर्थ है गति; तृप्ति का अर्थ है निद्रा, अतृप्ति का अर्थ है जागरण; तृप्ति का अर्थ है मृत्यु, अतृप्ति का अर्थ है जीवन। 'सुख की चिर पूर्ति यही है उस मधु से फिर जावे मन।' अतृप्ति की यह प्रेमिका इसी से पीड़ा की

ओर मुड़ी है। ऊपर की पंक्ति में ज्ञानी लोग जैसे ब्रह्म का निवास अन्तर में बतलाते हैं वैसे ही कवयित्री ने उनका अपने अन्तर में आह्वान किया है। ज्ञानी लोग मन पर जहाँ माया का आवरण मानते हैं, वहाँ शुद्ध चेतन पर दुःख का आवरण माना गया है। माया 'परिणामी' है, नित्य नहीं। अतः माया के आवरण को भेदती हुई साधक की दृष्टि मायापति तक पहुँचती है और इस बीच 'वह यह नहीं है' 'यह भी नहीं है' जानती हुई माया के मिथ्या स्वरूप से परिचय प्राप्त कर लेती है। माया फिर नहीं सताती। इसी प्रकार प्रियतम की झलक पाने से पहिले इस दुःखमय संसार के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान भी महादेवी जी को आप से आप हो जायगा, यदि उनका 'सुन्दर' दुःख के आवरण के पीछे छिप गया तो। इसमें लाभ यह होगा कि इस दुःखमय जगत की ममता फिर न सता पायेगी। जग की ममता के दुःख को आध्यात्मिक पीड़ा से एकदम भिन्न समझना चाहिए; क्योंकि जहाँ मिलन-स्थल आता है वहाँ वे एकदम चौकन्नी होकर कठोर हो जाती हैं—

(अ) तुम 'अमर प्रतीक्षा' हो मैं
पग विरह-पथिक का धीमा।
आते जाते मिट जाऊँ
पाऊँ न पन्थ की सीमा।

(आ) वह सुनहला हास तेरा
अंक भर घनसार-सा
उड़ जायगा अस्तित्व मेरा।

ऐसी हठीली साधिका का पीड़ा से सहज छुटकारा नहीं हो सकता। एक ओर पीड़ा की साधना स्वीकार करने पर और दूसरी ओर साधना के आनन्द में ही मग्न रहने पर उनकी पंक्तियों में पीड़ा साधना होते हुए भी साध्य-सी बन बैठी है।

(अ) खोज ही चिर प्राप्ति का वर,
साधना ही सिद्धि सुन्दर।

(आ) अलि विरह के पंथ में मैं तो न इति अथ मानती री!

(ह) मैं चिर पथिक वेदना का लिए न्यास।

परन्तु ऐसे जितने भी भाव उनके गीतों में बिखरे पड़े हैं वे केवल साधना-काल की दृढ़ मानसिक स्थिति को व्यक्त करने के लिए ही हैं। अपनी साधना में वे निश्चल हैं, इनका केवल इतना ही तात्पर्य है। पर साधना सिद्धि के लिए ही स्वीकार की जाती है, यह सिद्ध करना अब कठिन नहीं होगा। दीपक का काम है जलना। परन्तु उसके जलने की एक अवधि है। कैसी ही अंध-तम-पूरित निशा हो, झंझा कितना ही प्रबल हो उठे, पर उसे जलकर अंधकार को उस समय तक झेलना ही पड़ेगा जब तक वह अपनी लौ को प्रभात के प्रकाश-चरणों में प्रणत होकर लीन करने का अवसर न पाये। 'दीपशिखा' के गीतों में साधना के प्रारम्भ से लेकर सिद्धि की प्राप्ति तक की स्थितियाँ आप स्पष्टता से देख सकते हैं।

(१) दीप मेरे जल अकम्पित
घुल अचंचल!

(२) यह मंदिर का दीप इसे नीरव जलने दो।
जब तक लौटे दिन की हलचल,
तब तक यह जागेगा प्रतिपल,
दूत साँझ का इसे प्रभाती तक चलने दो।

(३) खोल कर जो दीप के दृग
कह गया 'तम में बढ़ा पग'
देख श्रमधूमिल उसे करते निशा की साँस जगमग।
क्या न आ कहता वही
'सो, याम अंतिम ढल चुका है'

(४) पुजारी दीप कहीं सोता है।
विद्रुम के रथ पर आता दिन
जब मोती की रेणु उड़ाता,
उसकी स्मृति का आदि, अंत इसके पथ का होता है।

(५) दीप सी मैं!

आ रही अविराम मिट मिट,
स्वजन और समीप सी मैं !

(६) शेषयामा यामिनी मेरा निकट निर्वाण !

(७) सजल है कितना सवेरा !

कल्पना निज देखकर साकार होते,
और उसमें प्राण का संचार होते,
सो गया रख तूलिका दीपक चितेरा !

इस प्रकार जिस वेदना को सँभालना उन्हें एक दिन कठिन हो गया था, जिसके अतिरिक्त एक दिन उन्हें और कुछ दिखाई ही नहीं देता था, जिसे छोड़कर जीवित रहना वे कठिन समझती थीं, उसी वेदना को विदा करने की बेला अब आ पहुँची है। पीड़ा को विदा करते समय उन्हें बड़ी पीड़ा होगी, यह हम जानते हैं; पर विदा तो उसे करना ही होगा—हँसकर अथवा रोकर, क्योंकि निशा समाप्त हो गई है और—

राख से अंगार—तारे झर चले हैं,
धूम बंदी रंग के निर्झर खुले हैं,
खोलता है पंख रूपों में अँधेरा !
ले उषा ने किरण-अक्षत हास-रोती,
रात-अंकों से पराजय-रेख धोती,
राग ने फिर साँस का संसार घेरा !

आनन्द की भावना

कैसा ही जीवन हो, दुःख को आधार बनाकर नहीं चल सकता; पर क्योंकि महादेवी जी के संबंध में यह प्रचारित हो गया है कि वे पीड़ा को प्यार करती हैं; अतः पाठक की दृष्टि सामान्यतया इस ओर नहीं जाती कि उनके काव्य में आलोक और आनंद के तत्त्व भी निहित होंगे।

सामान्य रूप से मृत्यु, दुःख, निराशा और अंधकार का जीवन में विशेष स्थान नहीं है। संसार में मृत्यु से अधिक सृजन, दुःख से अधिक सुख, निराशा से अधिक आशा और अंधकार से अधिक आलोक है। ऐसा न हो तो सृष्टि एक पल भी नहीं चल सकती। उसका विकास हो ही नहीं सकता। समय की गति के साथ धीरे-धीरे मनुष्य अज्ञान, निराशा और दुखः पर विजय प्राप्त करता चला जा रहा है। उसका प्रयत्न यही रहा है कि वह तमस् से ज्योति की ओर, दुःख से आनंद की ओर और मृत्यु से अमरता की ओर बढ़े। मनुष्य की आत्मा क्योंकि आलोक, आनंद, सत्य और चेतनता के तत्त्वों से निर्मित है; अतः उसे जड़ता, असत्य, दुःख और अंधकार से जकड़ कर नहीं रखा जा सकता। अपने को इन विनाशी तत्त्वों से मुक्त कर वह अविनाशी तत्त्वों की ओर ही बढ़ेगी। ऐसी दशा में जब कोई कलाकार पीड़ा को स्वीकार करने की बात करता है, तब क्या समझा जाय?

इसका उत्तर यह है कि सामान्य मनुष्य का दुःख और प्रेमी की पीड़ा एक ही वस्तु नहीं है। एक भौतिक साधनों के अभाव से उत्पन्न होता है और अवांछनीय है, दूसरी का जन्म मन की विवशता से होता है, वह एक स्वयं-स्वीकृत स्थिति है; अतः सहनीय है। रोग से जो कष्ट मिलता है और विरह से जो वेदना उत्पन्न होती है उनकी जाति ही भिन्न हैं। दोनों के प्रति व्यक्ति का जो दृष्टिकोण रहता है, वह किसी से छिपा हुआ नहीं है। जीवन में जब तक प्रेम है, प्रेम में जब तक विरह है, विरह में जब तक वेदना है, तब तक प्राणी इस पीड़ा को अपनायेगा ही। यह पीड़ा उस दुःख

से निश्चित रूप से भिन्न प्रकार की होगी जो अन्न-वस्त्र के अभाव, आवास के छिनने, दरिद्रता और पराधीनता की भावना से उत्पन्न होती है। महादेवी जी ने दुःख, पीड़ा, वेदना, आँसू आदि का प्रयोग उस मानसिक विकलता के अर्थ में किया है जो प्रेम के जीवन को स्वीकार करने पर उत्पन्न होती है। क्योंकि भौतिक सुख के अभाव में भी हम इन शब्दों का प्रयोग करते हैं; अतः पाठकों और समीक्षकों के मन में भ्रम उत्पन्न हो गया है और उन्होंने आध्यात्मिक आकुलता को लौकिक कष्ट समझकर महादेवी को दुःखवादिनी घोषित कर दिया है। पर जैसा पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं साधक की आत्मा का आध्यात्मिक वेदना से ही, जो किसी अंश में आनंददायिनी भी होती है, संबंध होता है; उसका आर्थिक दुःख से किसी प्रकार का भी संबंध नहीं रहता। इस बात की परीक्षा हम महादेवी जी के काव्य को ही लेकर करेंगे।

जीवन में दुःख उठाना और बात है और दुःख के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण होना दूसरी बात। दुःख में पड़ना-न-पड़ना बहुत कुछ अपने हाथ की बात नहीं है। प्रायः परिस्थितियाँ और अन्य बहुत-से ऐसे कारण जिन पर मनुष्य नियंत्रण नहीं रख सकता, जीवन में दुःख के लिए उत्तरदायी हैं। यों जान-बूझकर कोई दुःख नहीं उठाना चाहता। हाँ, जहाँ कष्ट या दुःख से किसी बड़ी बात की सिद्धि होती है, वहाँ वह प्रसन्नता से भी ग्रहण किया जाता है। साधना-काल में कुछ-न-कुछ कष्ट प्रत्येक साधक को उठाना पड़ता है। जैसे पुण्य के साथ पाप, अहिंसा के साथ हिंसा, आलोक के साथ अंधकार, वैसे ही सृष्टि में सुख के साथ दुःख का भी अस्तित्व है। अतः विचारवान व्यक्ति दोनों के प्रति प्रायः समदृष्टि रखते हैं और दोनों को सहज भाव से स्वीकार करते हैं। महादेवी जी ने एक स्थान पर कहा भी है :—

> प्रिय ! मैं हूँ एक पहेली भी !
> जितना मधु जितना मधुर हास
> जितना मद तेरी चितवन में,
> जितना क्रन्दन जितना विषाद
> जितना विष जग के स्पंदन में,

पी-पी मैं चिर दुखप्यास बनी
सुख सरिता की रँगरेली भी।

'रश्मि' में दुःख पर महादेवी जी की एक स्वतन्त्र रचना है जिसमें उन्होंने इसे जीवन का रहस्य बतलाते हुए कहा है कि यह दुःख ही है जो हमें सभी प्रकार की स्वार्थ भावना से मुक्त कर जगत के प्रति उदार होना सिखलाता है; यह दुःख ही है जो हमें संवेदनशील बनाता है; यह दुःख ही है जो हमें प्रेम का पाठ पढ़ाता है और यह दुःख ही है जो समस्त संसार को एक सम्बन्ध-सूत्र में बाँधने की सामर्थ्य रखता है। सुख तो व्यक्ति को स्वार्थी बनाकर एक दूसरे से दूर कर देता है। यह दुःख की उपयोगिता हुई और मैं समझता हूँ दुःख के प्रति इस दृष्टिकोण में सत्य का बहुत बड़ा अंश छिपा हुआ है। एक दूसरे स्थान पर जीवन को दुःख के तत्वों से निर्मित मानते हुए भी उसकी सार्थकता उन्होंने पूजा के पुष्प के रूप में की है। वहाँ गीत के अंत में जीवन का समस्त दुःख आनन्द में परिवर्तित होता दिखाई देता है—

विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात।
वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास;
अश्रु चुनता दिवस इसका, अश्रु गिनती रात!
आँसुओं का कोष उर, दृग अश्रु की टकसाल;
तरल जलकण से बने घन-सा क्षणिक मृदुजात!
जो तुम्हारा हो सके लीला कमल यह आज;
खिल उठे निरुपम तुम्हारी देख स्मित का प्रात!
जीवन विरह का जलजात!

आध्यात्मिक प्रेम में विरह का प्राधान्य रहता है। साधक उस परम सुन्दर की ज्योति की कहीं झलक सी पाकर उसे फिर पाने की आशा में जीवन व्यतीत कर देता है; अतः सुख के पल कहीं निहित रहेंगे भी तो या तो अतीत के क्षेत्र के होंगे या भविष्य के क्षेत्र के। अतीत का क्षेत्र पीछे बहुत दूर तक जा सकता है। रहस्यवादी क्योंकि अध्यात्मवादी होता है; अतः हिन्दू धारणा के अनुसार वह जन्मान्तरवाद में भी विश्वास रखता है। ऐसी स्थिति में आत्मा

पिछले जन्मों के विरह और मिलन के क्षणों को भी विस्मरण नहीं कर पाती। जब परमात्मा से चिरकाल को बिछुड़ने से पहले वह उनके सम्पर्क में थी। पहले अतीत के मधुर पल्लों की इस स्मृति के रस का आस्वादन कीजिए—

अलि अब सपने की बात—
हो गया है वह मधु का प्रात!
जब मुरली का मृदु, पंचम स्वर,
कर जाता मन पुलकित अस्थिर,
कम्पित हो उठता सुख से भर,
नव लतिका-सा गात!
जब उनकी चितवन का निर्झर,
भर देता मधु से मानस-सर,
स्मित से झरतीं किरणें झरझर,
पीते दृग-जलजात।

भविष्य की आशा पर सभी तो जीवित रहते हैं। जीवन चल ही नहीं सकता, यदि उसकी भविष्य की सभी प्रकार की आशाएँ नष्ट कर दी जायँ तो। उस जीवन में अन्धकार के सिवाय और क्या रह जायगा, जिसमें भविष्य की सुनहरी किरण कभी झाँके ही नहीं। परन्तु जीवन इतना अन्याय किसी के प्रति नहीं करता कि उसके सुख के सारे झरोखे सदैव को बन्द कर दे। विरही तो आशा के सहारे ही जीवित रहता है। जिससे आज विछोह है, कल उससे मिलन भी होगा, यह आशा ही प्रेमी का एकमात्र सहारा है। महादेवी जी के काव्य में सुखप्रद भविष्य के एक नहीं, अनेक संकेत पाए जाते हैं। पहले तो सिद्धान्त रूप में वे इस बात का प्रतिपादन करती हैं कि—

अलक्षित परिवर्तन की डोर,
खींचती हमें इष्ट की ओर!
छिपाकर उर में निकट प्रभात,
गहनतम होती पिछली रात;

सघन वारिद अंबर से छूट,
सफल होते जल-कण में फूट!
स्निग्ध अपना जीवन कर क्षार,
दीप करता आलोक—प्रसार,
जला कर मृत्पिण्डों में प्राण,
बीज करता असंख्य निर्माण!
सृष्टि का है यह अमिट विधान,
एक मिटने में सौ वरदान!

और फिर अपने व्यक्तिगत जीवन पर दृष्टि डालती हुई इस आशा के सहारे जीवित रहने का प्रयत्न करती पायी जाती हैं—

अश्रुसिक्त रज से किसने
निर्मित कर मोती सी प्याली,
इंद्रधनुष के रंगों से
चित्रित कर मुझको दे डाली?
मैंने मधुर वेदनाओं की
उसमें जो मदिरा ढाली,
फूटी सी पड़ती है उसकी
फेनिल विद्रुम सी लाली!
सुख-दुख की बुदबुद सी लड़ियाँ
बन-बन उसमें मिट जातीं,
बूंद-बूंद लेकर भरती वह
भर-भर छलक-छलक जाती!
इस आशा से मैं उसमें
बैठी हूँ निष्फल सपने घोल,
कभी तुम्हारे सस्मित अधरों—
को छू वे होंगे अनमोल!

यदि ऐसा दिन कभी आया, जीवन की सार्थकता यदि इस प्रकार सिद्ध

हुई, स्वप्न यदि सत्य में परिणत हुआ, तब तो सारी घनीभूत पीड़ा पिघलकर न जाने कहाँ बह जायगी और चारों दिशाओं से झाँकता हुआ सुख सहसा मुस्करा उठेगा। संभवतः इसी स्थिति को लक्ष्य करके महादेवी जी ने कहा है: इससे मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि मैं जीवन भर आँसू की माला ही गूंथा करूँगी और सुख का वैभव जीवन के एक कोने में बंद पड़ा रहेगा।

वे मधुदिन जिनकी स्मृतियों की
धुँधली रेखाएँ खोईं,
चमक उठेंगे इंद्रधनुष से
मेरे विस्मृति के घन में!
झंझा की पहली नीरवता—
सी नीरव मेरी साधें,
भर देंगी उन्माद प्रलय का
मानस की लघु कंपन में!
सोते जो असंख्य बुदबुद से
बेसुध सुख मेरे सुकुमार,
फूट पड़ेंगे दुखसागर के
सिहरे धीमे स्पंदन में!
मूक हुआ जो शिशिर निशा में
मेरे जीवन का संगीत,
मधु प्रभात में भर देगा वह
अंतहीन लय कण-कण में!

अब विरह के आनंद-पक्ष पर आइए। विरह की एक विशेषता यह है कि वह प्रेम को जीवित रखता है। दो व्यक्तियों के दूर होने पर विरह भावना ही प्रेम की सजीवता का प्रमाण है। यह भावना वह संबंध-सूत्र है जो दो हृदयों को बाँधे रखती है। जैसे जैसे यह गहरी होती है, वैसे ही वैसे यद्यपि वेदना भी गंभीर होती चली जाती है; पर प्रेम-पात्र से मानसिक-संबंध अधिक घनिष्ठ होने पर मानसिक आनंद भी उसी अनुपात में बढ़ जाता है।

संयोग-काल में जो सुख दर्शन, संभाषण और स्पर्श आदि से मिलता है, उससे कहीं सूक्ष्म और गहरा आनंद केवल प्रणयी के चिंतन-मात्र से मिलता है। बाहरी मिलन में तो समाज और संसार बाधा डाल भी सकता है; पर मानसिक मिलन में कोई शक्ति व्याघात उत्पन्न नहीं कर सकती। ऐसा न हो तो विरह की समस्त उपयोगिता और महत्व नष्ट हो जाय। महादेवी जी के काव्य से विरह के आनंददायी स्वरूप के कुछ उदाहरण लीजिए—

(१) विरह है या अखंड संयोग?

(२) पाने में तुमको खोऊँ
खोने में समझूँ पाना।

(३) कौन तुम मेरे हृदय में?
कौन मेरी कसक में नित
मधुरता भरता अलक्षित?
कौन प्यासे लोचनों में
घुमड़ घिर झरता अपरिचित?
स्वर्ण स्वप्नों का चितेरा
नींद के सूने निलय में
एक करुण अभाव में चिर—
तृप्ति का संसार संचित;
एक लघु कण दे रहा
निर्वाण के वरदान शत शत;
पा लिया मैंने किसे इस
वेदना के मधुर क्रय में?
कौन तुम मेरे हृदय में?

(४) जलना ही प्रकाश उसमें सुख,
बुझना ही तम है तम में दुख!

(५) विरह का युग आज दीखा,
मिलन के लघु पल सरीखा;

दुःख-सुख में कौन तीखा
मैं न जानी औ' न सीखा !

मधुर मुझको हो गए सब मधुर प्रिय की भावना ले !

कैसा ही दुःख का जीवन हो, सुख किसी-न-किसी अंश में उसमें समाया ही रहता है। महादेवी की प्रेम-भावना पर आगे चलकर हम कुछ विस्तार से विचार करेंगे, यहाँ संक्षेप में उसकी मूल प्रवृत्ति पर प्रकाश डालने का प्रयत्न कर रहे हैं। महादेवी जी ने दुःख के प्रति आकर्षण व्यक्त करते हुए और उस दुःख की व्याख्या करते हुए भी, उसे जीवन का एक मात्र तत्त्व नहीं माना है और न सुख के प्रति अपनी विरक्ति ही कहीं प्रकट की है। जैसे और सभी चिंतक सुख को दुःख से हल्का मानते हैं, वैसा ही उन्होने भी स्वीकार किया है। लेकिन काव्य-भूमि में पदार्पण करने पर उन्होने घोषित यही किया है कि जीवन में सुख-दुःख समान अनुपात में रहते हैं—

मेरी है पहेली बात !

रात के झीने सिताञ्चल
से बिखर मोती बने जल,
स्वप्न पलकों में विचर झर
प्रात होते अश्रु केवल !

सजनि मैं उतनी करुण हूँ, करुण जितनी रात !

मुस्करा कर राग मधुमय
वह लुटाता पी तिमिर विष,
आँसुओं का क्षार पी मैं
बाँटती नित स्नेह का रस !

सुभग मैं उतनी मधुर हूँ मधुर जितना प्रात !

इसी प्रकार अपने जीवन की तुलना पक्षी से करते हुए उन्होंने अपनी भावनाओं को अधिकतर आनंदमयी बतलाया है—

विहंगम ! मधुर स्वर तेरे
मदिर हर तार है मेरा !

गगन का तू अमर किन्नर
धरा का अजर गायक उर,
मुखर है शून्य तुझसे, लय भरा
यह द्वार है मेरा!
उड़ा तू छंद बरसाता,
चला मन स्वप्न बिखराता,
अमिट छवि की परिधि तेरी
अचल रस-पार है मेरा!

प्रियतम के चिंतन-मात्र से वे रोमाचित और उत्फुल्ल हो उठती हैं और कहीं-कहीं तो अपने उस उल्लास को किसी-न-किसी रूप में व्यक्त भी कर देती हैं। दोनों स्थितियों के चित्र देखिए—

(१) जो न प्रिय पहचान पाती!
चाँदनी के बादलों से स्वप्न फिर-फिर घेरते क्यों?
मदिर सौरभ से सने क्षण दिवस-रात बिखेरते क्यों?
सजग स्मित क्यों चितवनों के
सुप्त प्रहरी को जगाती?

(२) जाने किस जीवन की सुधि ले
लहराती आती मधु बयार!
रंजित कर दे यह शिथिल चरण ले नव अशोक का अरुण राग,
मेरे मंडन को आज मधुर ला रजनी गंधा का पराग,
यूथी की मीलित कलियों से
अलि दे मेरी कवरी सँवार!

इस प्रकार वेदना के समान आनंद की भावना भी महादेवी के काव्य में परिव्याप्त है। सुख और दुःख दोनों के अस्तित्व को उन्होंने स्वीकार किया है। यह दूसरी बात है कि दार्शनिक दृष्टि से वे सुख को इतना महत्व नहीं देतीं जितना दुःख को। सभी बातों पर विचार करते हुए यह भी स्पष्ट है कि महादेवी के काव्य में जहाँ दुःख एक 'वाद' के रूप में प्रतिष्ठित है, वहाँ

सुख एक भावना के रूप में ही ।/लेकिन यह महादेवी का अपना व्यक्तिगत दृष्टिकोण है। उनके काव्य-जीवन की परिस्थितियाँ ऐसी रही हैं कि विवश होकर उन्हें दुःख के भीतर से जाना पड़ा है; पर लक्ष्य इस यात्रा का भी आनंद ही है। इस लक्ष्य को यदि हम परम शांति कहें तो वह भी आनंद की ही एक दशा है। अतः महादेवी के दुःखवादी दर्शन को व्यापकता देने की आवश्यकता नहीं है। सामान्य दृष्टि से वह एक विचारधारा ही है, जिसे व्यापक धरातल पर स्वीकार नहीं किया जा सकता। •जीवन का मूल आनंद ही है। उसी से सृष्टि की रचना हुई है, उसी में सृष्टि विकसित हो रही है। ऐसी दशा में दुःखवादी दर्शन का प्रचारक कोई क्यों न हो—चाहे महादेवी और चाहे गौतम बुद्ध—उसे प्रचार की वस्तु नहीं बनाया जा सकता। जीवन का मूल स्वर है आनंद....आनंद....आनंद।

माधुर्य भाव

काव्य में प्रिया-प्रियतम के सम्बन्ध को माधुर्य भाव कहते हैं। भगवान को साधकों ने अनेक रूपों में देखा है। कहीं पिता के, कहीं माता के, कहीं स्वामी के, कहीं सखा के, कहीं प्रियतमा के और कहीं प्रियतम के सम्बन्ध से प्राणी ने उन्हें पुकारा है। इन सम्बन्धों में किसी के साथ श्रेष्ठ, किसी के श्रेष्ठतर और किसी के श्रेष्ठतम हम नहीं जोड़ सकते। भगवान भाव के भूखे हैं, वे उसकी संज्ञा की ओर ध्यान नहीं देते। फिर भी यह कहने की इच्छा होती है कि उन्हें प्रियतम कहने में आत्मा को जो अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है वह और कुछ कहने में नहीं। अन्य सम्बोधनों में कुछ मर्यादा का ध्यान रखना पड़ता है। वहाँ आत्मा पूर्णरूप से अपने को उड़ेल नहीं पाती।

प्रेम में गोपियों के प्रेम को आदर्श माना गया है। यह बात जब भागवत् के एक कथा-वाचक से मैंने पहिले-पहल सुनी तो समझ में न आई। मैं प्रायः सोचा करता था कि पति-पत्नी के प्रेम में जो माधुर्य और निश्चितता है उससे प्रेमी-प्रेमिका के प्रेम में कहाँ श्रेष्ठता है? एक दिन मथुरा के एक छोटे से घर में बैठा हुआ था। एक रेकर्ड बजा। भाषा साधारण थी। गायकों के स्वर में विशेष लोच न था, पर उसे बार-बार सुनने पर भी तृप्ति न हुई। कृष्ण की पटरानियाँ इस बात पर बहुत असंतुष्ट थीं कि उनके हर प्रकार की असाधारण सेवा करने पर भी कृष्ण बार-बार राधा का नाम लेने लगते हैं। एक बार नारद आए तो उनसे भी यही शिकायत हुई। ठीक उसी समय ऐसा हुआ कि कृष्ण के उदर में भयंकर शूल उठा जिसका शमन किसी उपचार से न हो सका। रानियों के प्राण ओठों पर आ गए। कृष्ण बोले—"नारद, कोई स्त्री यदि अपने पैर का अँगूठा धोकर मुझे पिला दे तो पीड़ा का शमन संभवतः हो जाय।" नारद ने रुक्मिणी, सत्यभामा आदि की ओर देखा। सभी बोलीं, "नारद, बड़े असमंजस की बात है। कोई अन्य उपाय करो। यह अधर्म हमसे

न होगा। तुम हमें नरक का भागी बनाना चाहते हो।" कृष्ण कराहते हुए कहने लगे, "नारद, मेरा मुँह तो बात करने का नहीं है, पर प्राण कंठ में आ रहेहैं। एक बार राधा के पास तो और हो आओ। शायद........।" नारद ब्रज में आकर राधा से मिले और घबराकर सारा सन्देश कहा। राधा ने अँगूठे का जल देते हुए कहा, "नारद ? उस छलिया के सम्बन्ध में बहुत सी बातें कहने की साध बहुत दिन से थी, पर तुम शीघ्रता करो, कुसमय है। कहना, राधा, कृष्ण के लिए एक नरक तो क्या करोड़ों नरकों की भयंकर यातनाओं से नहीं घबराती और प्रेम के लिए वह अधर्म भी कर सकती है।" उस सांध्य-काल में अहीर की उस बालिका के सामने मर्यादा की गरिमा कुछ फीकी और हल्की लगी। प्रेम में आत्मा को राधा ही बनने की क्या आवश्यकता है, यह उस समय समझ में आया। महादेवी जी ने अत्यन्त विह्वलता की अवस्था में एक स्थान पर कहा भी है—

आकुलता ही आज
हो गई तन्मय राधा

महादेवी जी माधुर्य भाव की उपासिका हैं। उन्होंने ब्रह्म को प्रियतम के रूप में देखा है। सच पूछा जाय तो यह सम्बन्ध उनके सम्बन्ध में इसलिए और भी स्वाभाविक लगता है कि उनका मन भी नारी का मन है। पुरुष को भी नारी का मन मिल सकता है जैसे 'वीणा' और 'पल्लव' के पन्त को। पर नारी का सा मन मिलना और नारी का ही मन होना दो बातें हैं। पन्त जी ने उस आवरण को आज उतार कर फेंक दिया। आत्मा में लिंग-भेद न होते हुए भी उसके निवास-स्थान शरीर का कुछ ऐसा प्रभाव है कि काव्य में पुरुष का स्त्री बनना कुछ वैसा ही विचित्र लगता है जैसे थियेटर में लड़कों का स्त्री-पात्र होना। पन्त जी ने 'पल्लव' में मौन निमंत्रण कविता की पंक्ति 'शून्य शय्या में श्रमित अपार जुड़ाती जब मैं आकुल प्राण' के स्थान पर 'पल्लविनी' में 'जुड़ाता जब मैं आकुल प्राण' कर दिया। इसी प्रकार 'नहीं कह सकती' के स्थान पर 'नहीं कह सकता' बोलने लगे। अपने पौरुष का ज्ञान उन्हें देर से हुआ, पर हुआ। पहिले कबीर आदि से जैसे हमें मीरा का अपने उपास्य को

प्रियतम कहना प्रिय लगता है, उसी प्रकार आधुनिक कवियों के प्रियतमा बनने से कवयित्री महादेवी का प्रियतमा बनना हमें अधिक संगत प्रतीत होता है।

अपने प्रेमपात्र के लिए महादेवी जी का सामान्य और प्रिय सम्बोधन तो 'प्रिय' ही है, पर और भी बहुत से नामों से वे उन्हें पुकारती हैं। कभी वे उनके रूप का ध्यान कर 'सुन्दर' अथवा 'चिर सुन्दर' कहती हैं, कभी उनके खिंचाव और उलझन में डालने का ध्यान कर उन्हें 'निठुर' 'निर्मम' 'निर्मोही' बतलाती हैं। हृदय में आह्वान करते समय 'अतिथि' या 'पाहुन' कहती हैं। 'करुणामय' अथवा 'करुणेश' शब्द का दो भावों में प्रयोग करती हैं। कहीं करुणा दिखाने के समय शब्द का वाच्यार्थ लेकर और कहीं करुणाहीनता को प्रत्यक्ष करने के लिये व्यंग्य से इस शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार अत्यधिक आदरसूचक 'देव' शब्द का जहाँ उन्होंने प्रयोग किया है, वहाँ उन्हें तटस्थ देख 'अभिमानी' भी कहा है। 'वे', 'तुम' और 'तू' सर्वनामों का प्रयोग भी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से उनके लिए हुआ है। जब दूसरों को उनका परिचय देना होता है तो 'वे' कहती हैं और जब उनसे बातचीत करने के ढंग से बोलती हैं तो 'तुम' कहती हैं। यह बिल्कुल घरेलू ढङ्ग है। जब किसी बाहर के आदमी को परिचय देना होता है, तो हमारी प्रियाएँ कहती हैं, 'वे कहीं बाहर गए हैं।' जब अकेले में बातचीत करती हैं तो पूछती हैं, "तुम अब तक कहाँ रहे जी ?" 'तू', 'तेरा' शब्दों का प्रयोग भी उनकी रचनाओं में है। ये 'तू' और 'तेरा' प्रत्येक स्थान पर तिरस्कारवाचक नहीं हैं। तेरा या तेरी से सम्बन्धित वस्तु जहाँ तिरस्कार का विषय है, वहाँ इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ में है जैसे—'ऐसा तेरा लोक, वेदना नहीं, नहीं जिसमें अवसाद' या 'क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार ?' कहीं-कहीं महाकरुणामय, महासुषमामय, महामहिमामय जानकर 'तू' या 'तेरे' कह दिया है, वहाँ किसी प्रकार के प्रेम-सम्बन्ध की विज्ञप्ति नहीं है, केवल उनकी शक्ति और वैभव की स्वीकृति है। पर कहीं-कहीं एक ही रचना में 'तुम' कहने के उपरान्त प्रेमाधिक्य के कारण—ऐसी दशा में जब संज्ञा-ज्ञान कम रहता है—'तेरा' और 'तेरी' शब्द अनायास निकल गये हैं जैसे—

तुम मुझ में प्रिय फिर परिचय क्या ।
तेरा अधर विचुम्बित प्याला,
तेरी ही स्मितिमिश्रित हाला,
तेरा ही मानस मधुशाला,
फिर पूछूँ क्यों मेरे साकी
देते हो मधुमय विषमय क्या !

इस प्रेम व्यापार में सापत्न्य-ईर्ष्या-जनित कलह को स्थान नहीं है । कृष्ण का स्थूल शरीर नहीं है जिस पर अधिकार जमाने के लिए आपस में झगड़ा हो । किसके घर रहे, किससे हँसे बोले, किसकी मनुहारें की और किसके कलेजे में आग लगाई, ऐसी बुरी बातों का यहाँ प्रसङ्ग ही नहीं उठता । यहाँ प्रेमपात्र का ऐसा स्वरूप है जिसकी सभी प्रेमिकाएँ आपस में सपत्नियाँ नहीं कहलातीं, जहाँ अगणित प्रेमिकाएँ होने पर भी प्रेम के बटवारे के लिए तू-तू मैं-मैं नहीं होती । इससे प्रेम-व्यापार की विवधता, नूतनता, जटिलता और रंगीनी तो मिट गई, पर साथ ही प्रेम-पात्र का इधर-उधर खिंचा फिरना, अपने दोषों, कुटिलताओं और अपराधों पर शङ्कित होना भी लुप्त हो गया । वैसे हमें तो गंभीर प्रेम-व्यापार से गोपियों की सी कुछ छेड़-छाड़ की प्रेमलीला अधिक आकर्षक लगती है । महादेवी जी के प्रेम में कोई विकट बाधा न होने से किसी विकट उत्साह के, जो प्रेम का प्राण है, दर्शन नहीं होते । सारा उत्साह केवल इसी बात में समाहित हो गया है कि उनका मिलन-पथ असीम है । उनकी कोई प्रतिद्वन्द्विनी न होने से उनकी रचनाओं में विनोद का भी एक प्रकार से एकदम अभाव है । बिना विनोद के प्रेम बहुत फीका लगता है । 'नीहार' में एक बार प्रेमपात्र को प्रकृति से छेड़-छाड़ करते देखा था और उस 'छलना' पर थोड़ी चौंकी भी थीं, पर आगे चलकर प्रकृति को उन्होंने बगल में ले लिया । अपनी ओर से भी वे किसी प्रकार का हास-परिहास नहीं करतीं । कोई मीठी चुटकी नहीं लेतीं । इतनी गम्भीर-हृदया वे क्यों हैं ? क्या इस गम्भीरता को वे कुछ कम नहीं कर सकतीं ?

यह प्रेम एक-पक्षीय अधिक है । इधर से जिस प्रेम और जिस पीड़ा का

प्रदर्शन हुआ है उस ओर से नहीं। उधर कोई तीव्र हलचल, तीखी व्याकुलता और गहरी उत्कण्ठा का अभाव है। एक रो रहा है, एक सो रहा है। विवश होकर कहना ही पड़ा—

तुम्हारी बीन ही में बज रहे हैं बेसुरे सब तार!
मेरी साँस में आरोह,
उर अवरोह का संचार,
प्राणों में रही घिर घूमती चिर मूर्च्छना सुकुमार!
चितवन ज्वलित दीपक गान,
दृग में सजल मेघ-मलार,
अभिनव मधुर उज्ज्वल स्वप्न शतशत राग के शृङ्गार!
सम हर निमिष, प्रतिपग ताल,
जीवन अमर स्वर विस्तार,
मिटती लहरियों ने रच दिए कितने अमिट संसार!
तुम अपनी मिला लो बीन,
भर लो उँगलियो मे प्यार,
घुल कर करुण लय में तरल विद्युत् की बहे झंकार।

इस प्रेम-लीला के कई सोपान हैं जिन्हें हम दर्शन, विभूति और सौंदर्य-वर्णन, विरह तथा मिलन कह सकते हैं। दर्शन से मुग्धता और कसक का वर्णन 'नीहार' के प्रारम्भ में ही मिलता है। इसके पश्चात् के पल दीर्घ विरह के पल हैं; पर बीच-बीच में प्रकृति में उनकी झाँकी मिलती है और ऐसा आभास भी मिलता रहता है कि कोई स्पष्ट न पुकार कर बुलाता रहता, विशेष आकार में न आकर आँखों में चकाचौंध भरता रहता और पकड़ में न आकर भी गुदगुदाता रहता है। विरह में आन्तरिक पीड़ा और उस पीड़ा के बाह्य लक्षणों के बहुत मार्मिक और स्पष्ट वर्णन 'यामा' में मिलते हैं। सुधिमात्र से शरीर की गति कुछ-से-कुछ हो जाती है। कंपन, रोमांच और अश्रु सात्विकों ने बहुत कुछ छिपाने पर भी सारा भेद खोल दिया—

(अ) पुलक-पुलक उर, सिहर-सिहर तन
आज नयन आते क्यों भर-भर ?—नीरजा

(आ) मंजरित नवल मृदु देह डाल,
खिल-खिल उठता नव पुलकजाल,
मधुकन-सा छलका नयन नीर।
घुल-घुल जाता यह हिम दुराव,
गा-गा उठते चिर मूक भाव,
अलि सिहर-सिहर उठता शरीर।—रश्मि

सौंदर्य का शृंगार से बहुत गहरा संबंध है। यह ठीक है कि दिखाना वस्त्रों का नहीं होता। प्रेम करने वाला कपड़ों को महत्ता नहीं देता और वस्त्राभूषण से असुन्दर को सुन्दर नहीं बनाया जा सकता। पर शृंगार से सुन्दर सुन्दरतर हो जाता है और प्रेमी भी उस दशा में अधिक आकर्षण का अनुभव करता है। रावण की मृत्यु के उपरांत सीताजी 'कृस तनु सीस जटा इक बेनी' की दशा में ही जा सकती थीं; पर उन्हे भी 'बहु प्रकार भूषण पहिराये' गए। साकेत में लक्ष्मण के लौटने पर उर्मिला के ना-ना करते रहने पर भी सखी ने उसे सुसज्जित कर ही दिया है। मिलन की तत्परता में शृंगार न करना अमंगल का ही सूचक नहीं है, दरिद्रता और उत्साह-हीनता, असभ्यता और फूहड़पन का भी परिचायक है। प्रकृति को तो देखो समागम की उत्कंठा में उसने अपने आपको और अपने घर को कैसा सुसज्जित किया है ? स्थान लिपा-पुता, दीपक जले हुए, संगीत का आयोजन और स्वयं भीतर बाहर से प्रसन्न; पर कैसी शर्मीली बन गई है !

हिम-स्नात कलियों पर जलाए
जुगनुओं ने दीप-से;
ले मधु-पराग समीर ने
बन-पथ दिए हैं लीप से;
गाती कमल के कक्ष में
मधु गीत मतवाली अलिन !

महादेवी का मन भी आज कुछ और प्रकार का हो उठा है, पर शृङ्गार के लिए वे जिन वस्तुओं को चुनती हैं उनकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते। माधुर्य-भाव की उपासिका में इतना संयम !

शृङ्गार कर ले री सजनि—

तू स्वप्न-सुमनों से सजा तन
विरह का उपहार ले;
अगणित युगों की प्यास का
अब नयन अंजन सार ले ?
अलि ! मिलन-गीत बने मनोरम
नूपुरों की मदिर ध्वनि ?

जहाँ शृङ्गार लौकिक वस्त्राभूषणों से सम्बन्ध रखता है, वहाँ भी पूरी सात्विकता एवं विलक्षण सुरुचि का महादेवी जी ने परिचय दिया है। जगत-तपोवन में पली इस आध्यात्मिक शकुंतला के शरीर को सुसज्जित करने वाली आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति प्रकृति के उपादानों से होती है—

जाने किस जीवन की सुधि ले
लहराती आती मधु-बयार।
रञ्जित कर दे यह शिथिल चरण ले नव-अशोक का अरुणराग।
मेरे मण्डन को आज मधुर ला रजनीगन्धा का पराग।
यूथी की मीलित कलियों से
अलि दे मेरी कबरी सँवार।
पाटल के सुरभित रङ्गों से रङ्ग दे हिम-सा उज्ज्वल दुकूल
गुथ दे रशना में अलि-गुञ्जन से पूरित झरते वकुल फूल।
रजनी से अंजन माँग सजनि
दे मेरे अलसित नयन सार।

रूढ़ि का पालन करने के लिए वैसे पत्र-लेखन की चर्चा भी महादेवी जी के गीतों में एकाध स्थल पर है। प्रणय-पथ में एक दूसरे से दूर होने पर भी हम जो पत्रों के द्वारा एक दूसरे के पास रहते हैं, उसमें एक विचित्र ही प्रकार

का कसक भरा माधुर्य रहता है। निरन्तर निकट रहने पर भी जो बातें हमारे प्राणों की गुहा में ही विलीन रहती हैं, अधरों तक नहीं आ पातीं, वे पत्रों में सहज स्वीकारोक्तियाँ बन कर उभर पड़ती हैं। तब हम कितने पुलकित होते हैं, कितने विकल! परन्तु रहस्यवाद के क्षेत्र में पत्रों का वह मूल्य नहीं रह जाता जो सामान्य प्रेम-मार्ग की निधि है। कारण यह है कि वहाँ प्रियतम की कल्पना बहुत कुछ अपने अंतर में होती है। अतः दूरी की सार्थकता के छिनते ही पत्रों की सारी सम्मोहन-शक्ति क्षीण हो जाती है। कबीर और मीरा की भाँति महादेवी जी को भी इसी से संतोष का वही पुराना स्वर दुहराना पड़ा है—

अलि कहाँ संदेश भेजूँ
मैं किसे संदेश भेजूँ?
नयन पथ से स्वप्न में मिल,
प्यास में घुल, साध में खिल,
प्रिय मुझी में खो गया अब दूत को किस देश भेजूँ?

इसी भाव का यह लोक-प्रचलित दोहा देखिये—

पीतम पाती जब लिखूँ, जब कोई होय विदेश।
तन में, मन में, नैन में, उनको कहाँ संदेश।

फिर भी यह निश्चित है कि अपने हृदय में उनके रहने की बात प्रेमी आवेश में ही कहता है। वियोग काल में हमारी समस्त बिखरी भावनाएँ एकत्र होकर ऐसी केन्द्रित हो जाती हैं, स्मृति इतनी अधिक तीव्र हो जाती है कि प्रेमास्पद छायारूप में हमारे चारों ओर निरंतर घूमता और अंतर में बराबर घुमड़ता प्रतीत होता है। अतः वह दूर कहाँ? पर इस मानसिक सामीप्य को प्राप्ति की संज्ञा तो नहीं दी जा सकती। प्राप्ति की ज्योत्स्ना की झलक तो वियोग के अग्नि-पथ को पार करने पर ही मिलती है। इसी से वियोग की शतशत ज्वाल-मालाओं में भी विरही एक मधुर आशा को लेकर जीवित रहता है। महादेवी जैसी गम्भीर-शीला प्रणयिनी भी लाख बार उन्हें अपने अंतर में अनुभव करते रहने पर इस विकल प्रश्न और विह्वल आकांक्षा को पूछने-प्रकट करने से नहीं बच सकीं—

अब कहो सन्देश है क्या ?
और ज्वाल विशेष है क्या ?
अग्नि-पथ के पार चंदन चाँदनी का देश है क्या ?
एक इंगित के लिए
शतबार प्राण मचल चुका है।

प्रणयानुभूति

जैसे अतल सागर के हृदय से उठने वाली लहरों, सीमाहीन अवकाश के अन्तर से बहने वाली हिलोरों, सूर्य के नयन-कोर से बरसने वाली किरणों और सुधानिधि के आनन से झरनेवाली रजत-रेखाओं की कोई सीमा नहीं, उसी प्रकार मन के केन्द्र-बिन्दु से उगने वाली भावनाओं की कोई मिति भी। विश्लेषण, अनुमान और अनुभव से इतना सिद्ध है कि इन चेतना-रश्मियों की उद्‌गमवृत्ति किसी-न किसी रूप में आनन्दमयी है। यह 'आनन्द' प्राणी के मानस में स्नेह-रस बनकर संख्यातीत लहर-बुद्‌बुद-आवर्तों में परिवर्तित हो जाता है। मानव का मन ही नहीं, बाह्य-सृष्टि भी यही बात दुहराती है। कहीं उषा मुस्कराती, शतदल खिलते और मधुप मकरंद पान करते हैं; कहीं खग कूजते, पंख आकाश-पथ मापते और फिर दिनान्त में चारा लेकर नीड़ों की ओर लौट आते हैं; कहीं संध्या घिरती, ज्योत्स्ना फूटती और कुमुदिनी खिल पड़ती है; कहीं मेघ घिरते, गर्जन होता और मयूर नृत्य करते हैं; कहीं गिरिवर पिघलते, नदियाँ उमड़तीं और समुद्र का हृदय भरता है; कहीं नयन मिलते, आकर्षण बढ़ता और प्रतीक्षा होती है; कहीं दीनता बरसती, बरौनियाँ भीगतीं और सेवा-पथ स्वीकार करना पड़ता है; कहीं स्वतंत्रता छिनती, देशानुराग जन्म लेता और प्राणों की आहुतियाँ दी जाती हैं। द्वेष, क्रोध यहाँ तक कि हत्या तक के जो बहुत से उदाहरण सुनाई पड़ते हैं उनके मूल में भी प्रायः प्रेम रहता है।

प्रेम जीवन की सबसे व्यापक वृत्ति है। प्रकृति और प्राणीमात्र से ऊँचा उठकर यही प्रेम जब इनके सृष्टा की ओर मुड़ जाता है तब वही लौकिक से अलौकिक होकर एक अनिर्वचनीय आनंद की अनुभूति जगाता है। महादेवी जी की प्रणयानुभूति अलौकिक है—अर्थात् प्रेम का वह मधुर संबंध जो प्रेमी और प्रेमिका के मध्य चलता है, उनकी आत्मा ने केवल उस परम पुरुष से स्थापित किया है। इसके अतिरिक्त मन की वह ममता जो माता के हृदय की

विभूति है, वह अनुराग जो बहिन के अन्तर में भाई के प्रति लहराता है, वह करुणा जो किसी भी दीन पर अनायास अपने अंचल की शीतल छाया डालती है, वह मुग्धता जो प्राकृतिक दृश्यों में लीनता का कारण बनती है, अन्यत्र प्रदर्शित हुई है। कविताओं में तो वे एक प्रणयिनी के रूप में ही दिखाई देती हैं; पर वे मा के रूप में, बहिन के रूप में, स्वामिनी और प्रकृति-प्रेमिका के रूप में भी अन्यतम हैं—यह उनके संस्मरणों के संकलनों अर्थात् 'अतीत के चल-चित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' से जाना जा सकता है। 'चलचित्रों' की चर्चा हम पहिले कर चुके हैं। अब 'स्मृति की रेखाओं' की आत्मा में झाँकिये—

१—भक्तिन और मेरे बीच में सेवक-स्वामी का सम्बन्ध है यह कहना कठिन है, क्योंकि ऐसा कोई स्वामी नहीं हो सकता जो इच्छा होने पर भी सेवक को अपनी सेवा से हटा न सके और ऐसा कोई सेवक भी नहीं सुना गया जो स्वामी से चले जाने का आदेश पाकर अवज्ञा से हँस दे।

२—एक युग से अधिक समय की अवधि में मेरे पास एक ही परिचारक, एक ही ग्वाला, एक ही धोबी और एक ही ताँगेवाला रहा है। परिवर्तन का कारण मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ हो सकता है, इसे न वे जानते हैं न मैं।

३—तब से मुन्नू की माई 'हम तौ आज नैहरे जाब' कहकर प्रायः यहाँ चली आती है। मेरा घर उसका एकमात्र नैहर है यह सोचकर मन व्यथित होने लगता है।

४—मन में सोचा अच्छा भाई मिला है। बचपन में मुझे लोग चीनी कहकर चिढ़ाया करते थे। सन्देह होने लगा उस चिढ़ाने में कोई तत्त्व भी रहा होगा। मेरे पास रुपया रहना ही कठिन है, अधिक रुपये की चर्चा ही क्या ? पर कुछ अपने पास खोज ढूँढ़कर और कुछ दूसरों से उधार लेकर मैंने चीनी के जाने का प्रबन्ध किया। वह जन्म का दुखियारा, मातृ-पितृहीन और बहिन से बिछुड़ा हुआ चीनी भाई अपने समस्त स्नेह के एकमात्र आधार चीन में पहुँचने का आत्म-तोष पा गया है, इसका कोई प्रमाण नहीं—पर मेरा मन यही कहता है।

५—गर्मियों में जहाँ-तहाँ फेंकी हुई आम की गुठली जब वर्षा में जम उगती है तब उसके पास मुझसे अधिक सतर्क माली दूसरा नहीं रहता। घर के किसी कोने में चिड़िया जब घोंसला बना लेती है तब उसे मुझसे अधिक सजग प्रहरी दूसरा नहीं मिल सकता। जिसका दूध लग जाने से आँख फूट जाती है वह थूहर भी मेरे सयत्न लगाए आम के पार्श्व में गर्व से सिर उठाए खड़ा रहता है। धँसकर न निकलने वाले काँटों से जड़ा हुआ भटकटैया सुनहरे रेशम के लच्छों में ढके और उजले कोमल मोतियों से जड़े मक्का के भुट्टे के निकट साधिकार आसन जमा लेता है।

इस प्रकार एक ओर आध्यात्मिक अन्वेषण और अलौकिक प्रणय-लीनता में अपनी सत्ता को अभी तक साभिमान बनाये रखने पर भी महादेवी जी ने दूसरी ओर प्रकृति की तुच्छ-से-तुच्छ वस्तु और समाज में 'छोटे' की संज्ञा पाने वाले अनादृत व्यक्तियों के सुख-दुःख में अहर्निश जीवंत भाग लेकर अपने को भुला दिया है। वे केवल उन व्यक्तियों में से नहीं हैं जो कल्पना से भारतीय हाहाकार को चित्रित कर क्रान्ति या प्रगति के अग्रदूत कहलाते हैं; वरन् उन सच्ची आत्माओं में से हैं जो शीत-घाम-वर्षा में अपने पैरों से घूमकर झोपड़ियों और परित्यक्त पथों पर अपनी आँखों से देखकर अनिवार्य होने पर भी अपने स्वास्थ्य की चिंता न करते हुए, अपने ही हाथों से वास्तविक दीनों और व्यथितों की सेवा करती फिरती हैं। एक दार्शनिक की आत्मा में करुणा की ऐसी सजलता भरकर विधि ने जिस अपूर्व भारतीय महिला की सृष्टि की है उसके समान केवल वही प्रतीत होती हैं। इतना जानते हुए भी जो उन्हें हृदय से पलायनवादिनी कहते हैं वे कितने प्रगल्भ हैं। पलायन के संस्कार उनमें हैं ही नहीं। पर यदि कोई यह सोचता हो कि काव्य-सृष्टि भी कवि को उसी विषय पर करनी होगी जिसे वह या उसका दल चुनकर दे तब उससे बड़ा अज्ञ और कोई नहीं है।

गीतों का कथा-भाग

महादेवी जी के गीतों के मूल में एक क्षीण-सी कथा-धारा बहती है। ये कविताएँ उन मुक्तकों से भिन्न कोटि की हैं जिनमें एक छन्द या रचना का

दूसरे छन्द या रचना से कोई सम्बन्ध नहीं होता जैसे बिहारी के दोहे या उर्दू की ग़ज़लें। जहाँ रुचि अथवा स्थिति से शासित होने पर कवि कभी प्रेम, कभी प्रकृति, कभी समाज-सुधार और कभी देश-भक्ति पर लिखता है, वहाँ उसकी कोई भी रचना निरपेक्ष होती है। आधुनिक हिन्दी कवियों के बहुत से गीत-सकलन इसी कोटि के हैं। पर 'प्रसाद' की 'आँसू' पुस्तिका एक भिन्न ही प्रकार की वस्तु है। उसके छन्दों के तरल-मोती एक विशिष्ट प्रेमिका की निष्ठुरता का अभिषेक करते हैं। महादेवी जी का प्रत्येक गीत वैसे अपने में पूर्ण है, पर वह एक विस्तृत भाव-माला का पुष्प है; अतः उसे सापेक्ष दृष्टि से देखना ही अधिक संगत होगा। उनकी रचनाओं को समझने के लिए कम-से-कम दो बातों का ध्यान रखना चाहिए। पहिली बात तो यह कि उनके गीत उज्ज्वल प्रेम के गीत हैं, अतः उनका उच्चारण करने के पूर्व 'फ्रायड' को हृदय से निकाल देना चाहिए। दूसरी बात यह है कि ये गीत एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। 'नीहार' में आकर्षण और पीड़ा की अनुभूति, 'रश्मि' में दार्शनिक सिद्धान्तों, 'नीरजा' में विरह-व्यथा, 'सांध्यगीत' में आत्म-तोष और 'दीप-शिखा' में साधना की गति का प्रतिपादन है। अतः जैसा अभी कहा है किसी भी गीत को बीच से उखाड़ कर पढ़ने की अपेक्षा उनके सभी गीतों को एक बार पढ़ कर उनकी कल्पना-भूमि और प्रणय-धारा को एक बार हृदयंगम कर लेना चाहिए। अच्छा होता वे अपने गीतों के शीर्षक दे देतीं। इससे उनके पाठकों को सुविधा हो जाती। पर किसी भी कारण से यह कार्य यदि उन्हें रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ, तब उनके दार्शनिक विश्वास और अनुभूति सम्बन्धी कुछ बातों को स्मरण रखना चाहिए।

काल-सीमा-हीन अवकाश में कोई अनादि अनन्त सो रहा (निष्क्रिय) था। एकाकीपन के भार से अकुलाकर उसने अपनी कल्पना से रंगीन (सत्, रज, तम-मिश्रित) स्वप्नों (जगत की विभिन्न वस्तुओं) की सृष्टि की, जिनका उद्भव, विकास और लय समुद्र में लहरों के समान उसी में होता रहता है। लहरें समुद्र होते हुए भी जैसे एक विशेष आकार में बँधने से अपने को समुद्र से भिन्न और वियुक्त समझें और किसी की आकुल खोज में सिहरती रहें, उसी

प्रकार व्यापक चेतना जब 'नाम' 'रूप' में बँध गई, तब अपने को स-सीम समझने लगी और असीम के अन्वेषण के लिए विह्वल हो उठी।

'मैं वहीं हूँ' यह ज्ञान होने पर भी मैं उसमें घुलूँ न, थोड़ी दूर बनी रहूँ, यह अभीष्ट हुआ, क्योंकि मोक्ष, निर्वाण या लीन होने पर अपना अस्तित्व ही मिट जायगा और तब वेदना की मधुरता की उस अनुभूति का जो केवल एकाकार न होने की स्थिति में ही संभव है, भान कैसे होगा ? इसी से युग-युग की वियुक्त आत्मा की व्यथा को व्यक्त करने की आकुलता और उसकी अभिव्यक्ति की अनिर्वचनीय मधुरता के बीच ही महादेवी का मन अभी तक भ्रमण करता रहा है। इतनी सी कहानी कल्पनाओं के शत-शत रंगीन रूप धारण कर 'यामा' और 'दीप-शिखा' में दुहराई गई है।

संयम

प्रेम पर लेखनी चलाने वाले प्रायः सभी कवियों में कहीं-न-कहीं असंयम आ गया है। इस सम्बन्ध में संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी, बँगला, उर्दू, हिन्दी सभी भाषाओं की एक सी दशा है। उदाहरण देकर उत्तेजना उत्पन्न करना मुझे अभीष्ट नहीं, नहीं तो प्रत्येक भाषा के श्रेष्ठतम कवियों में यह दुर्बलता दिखाई जा सकती है। मनुष्य अन्त में मनुष्य ही है, यही कहकर सन्तोष करना पड़ता है। हिन्दी में महात्मा तुलसीदास ही एक ऐसे कवि निकले जो प्रेम-प्रसङ्गों का निर्वाह संयम के साथ कर गए। प्रत्येक मनोविकार अपने मूल रूप में अत्यन्त आवेशपूर्ण होता है, यह सत्य है; पर ऐसी नग्नता और आवेश की महत्ता मनोवैज्ञानिक के लिए हो तो हो, कवि के लिए नहीं है। कवि को अपनी बात संयम के साथ कहनी चाहिए। क्रोध में मनुष्य जिस समय जिह्वा पर से अपना शासन उठा लेता है, उस समय वह अपने को कितना ही बड़ा वाग्वीर समझता हो, पर सुनने वाले उसे अशिष्ट और असभ्य ही कहते हैं। यही क्रोध जब संयम के साथ व्यक्त होता है, तब उपयुक्त ही नहीं अधिक शोभन भी प्रतीत होता है। यही दशा प्रत्येक मनोविकार की है। हिन्दी के आधुनिक कवियों ने यद्यपि रीतिकाल की शृङ्गार-प्रियता और अश्लीलता की प्रतिक्रिया में अपनी रचनाओं की सृष्टि की थी, पर उनमें भी मैथिली-

शरण गुप्त जैसे एकाध कवि छोड़ वासना की अभिव्यक्ति की कमी नहीं रही। इधर जब से प्रगतिवाद ने जोर पकड़ा है तब से यथार्थवाद के नाम पर पूरी नग्नता और अश्लीलता कविता में प्रवेश कर गई है। ऐसी परिस्थितियों में जीवित रहकर और केवल प्रेम पर निरंतर लिखने पर भी महादेवी जी ने अपने अन्तर की जिस सात्विकता या संयम-वृत्ति का परिचय दिया है, वह उनके व्यक्तित्व की महत्ता की परिचायक ही नहीं, काव्य-गरिमा की आधार-स्तम्भ भी है।

एक आक्षेप

पंडित रामचन्द्र शुक्ल, उनके शिष्यों, अनुयायियों और प्रशंसकों; प्रगतिवाद के कवियों, समीक्षकों और समर्थकों तथा और भी कई साहित्य-प्रेमियों ने अपना यह मत प्रकट किया है कि महादेवी जी अनुभूति के आधार पर नहीं, अनुमान के आधार पर लिखती हैं। आध्यात्मिक-चेतना के पक्ष में तर्क के लिए संस्कृत के दार्शनिक ग्रंथ और प्रमाण के लिए प्रागैतिहासिक काल से लेकर अब तक ऋषियों और साधु-संतों की जीवनियाँ खुली पड़ी हैं। पर समाजवादी ऐसी बातों पर ध्यान देने ही क्यों लगे? वहाँ तो 'शास्त्र' के नाम पर एक मात्र 'अर्थशास्त्र' या फिर 'कामशास्त्र' है। मुझे पूर्ण आशङ्का है कि पश्चिम की अविकल धारणाओं के आधार पर यदि समाजवाद ने इस देश में अपने पैर जमाए और उसमें भारतीय परिस्थितिओं के अनुकूल परिवर्तन न हुए, तो आगे के कुछ वर्ष घोर नास्तिकवाद के वर्ष हैं। ऐसी दशा में अध्यात्मवाद की रचनाओं के विपरीत प्रचार आवश्यक हो उठा है। कवि छोटे-मोटे आक्षेपों के प्रति उदासीन ही देखे गए हैं। पर कोई बात जब सीमा का अतिक्रमण कर जाती है तब कवि भी कुछ कहने को विवश हो जाता है। उर्दू के प्रसिद्ध कवि 'गालिब' की गजलों पर जब यह आक्षेप किया गया कि वे अर्थहीन हैं तब उन्होंने विरक्ति के शब्दों में लिखा थाः—

न सताइश की तमन्ना न सिले की परवाह,
गर नहीं हैं मेरे अशआर में मानी न सही।

इसी प्रकार महादेवी के काव्य पर जो आक्षेप किए गए हैं, उनका उत्तर

उन्होंने अपने ढङ्ग से काव्य-ग्रंथों की भूमिकाओं में देने का प्रयत्न किया है। पर अनुभूति की अयथार्थता वाले सन्देह का समाधान उन्होंने काव्य के माध्यम से ही किया है। पहिले तो लोगों की धारणा पर उन्हें आश्चर्य होता है :—

जाने क्यों कहता है कोई,
मैं तम की उलझन में खोई?

मैं कण कण में ढाल रही अलि आँसू के मिस प्यार किसी का!
मैं पलकों में पाल रही हूँ यह सपना सुकुमार किसी का!

—दीपशिखा

पर जब इस बात को सुनते-सुनते कान पक उठते हैं, तब प्रति-प्रश्न-पद्धति पर उत्तर देती हुई प्रश्न करने वालों से अत्यन्त सहज भाव से अपने अनुभवों का कोई अन्य समाधान चाहती हैं :—

जो न प्रिय पहचान पाती!
दौड़ती क्यों प्रति शिरा में प्यास विद्युत् सी तरल बन?
क्यों अचेतन रोम पाते चिर व्यथामय सजग जीवन?

किस लिए हर साँस तम में
सजल दीपक-राग गाती?

चाँदनी के बादलों से स्वप्न फिर फिर घेरते क्यों?
मदिर सौरभ से सने क्षण दिवस-रात बिखेरते क्यों?

सजग स्मित क्यों चितवनों के
सुप्त प्रहरी को जगाती?

कल्प-युग-व्यापी विरह को एक सिहरन में सँभाले,
शून्यता भर तरल मोती से मधुर सुधि-दीप वाले,

क्यों किसी के आगमन के
शकुन स्पन्दन में मनाती?

मेघ-पथ में चिन्ह विद्युत् के गए जो छोड़ प्रिय-पद,
जो न उनकी चाप का मैं जानती संदेश उन्मद,

किसलिए पावस नयन में
प्राण में चातक बताती ?

—दीपशिखा

और इस आत्म-विश्वास, संकल्प की दृढ़ता एवं अटूट धैर्य को तो देखिए ! संसार में कितने साहित्यिक हैं जो अहं को ऐसा स्पृहणीय बना कर इतनी सुन्दर अभिव्यक्ति दे सकते हैं !

पंथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला !
अन्य होंगे चरण हारे,
और हैं जो लौटते, दे शूल को संकल्प सारे;
दुखव्रती निर्माण-उन्मद,
यह अमरता नापते पद,
बाँध देंगे अंक—संसृति
से तिमिर में स्वर्ण—वेला ?
दूसरी होगी कहानी,
शून्य में जिसके मिटे स्वर, धूलि में खोई निशानी;
आज जिस पर प्रलय विस्मित,
मैं लगाती चल रही नित,
मोतियों की हाट औ'
चिनगारियों का एक मेला !
हास का मधुदूत भेजो,
रोष की भ्रू-भंगिमा पतझार को चाहे सहेजो ?
ले मिलेगा उर अचंचल,
वेदना-जल, स्वप्न-शतदल,
जान लो वह मिलन-एकाकी
विरह में है दुकेला ?

पंथ होने दो अपरिचित—

मनोदशाएँ

प्रेम का विषय जितना रोचक है, उतना विवादास्पद, उतना ही विषम। प्रेम की दशा में स्त्रियाँ कैसा अनुभव करती हैं, यह सदा से मनुष्य की उत्सुकता का प्रधान विषय रहा है। नारी जो अनादि काल से मनुष्य के लिए पहेली बनी हुई है, उसके मूल में प्रमुख बात यह है कि वह पुरुष की अपेक्षा अधिक भावमयी होते हुए भी कहती कम है। फिर जिस प्रकार वह अनुभव करती है, उसी प्रकार व्यक्त भी नहीं करती। कभी-कभी तो बिल्कुल उल्टी बात कहती और विपरीत आचरण करती है। मनुष्य जो बाहरी व्यवहार को प्रमुखता देता है और जल्दी ही सब कुछ जानना चाहता है, उसके सम्बन्ध में भ्रान्त धारणाएँ बना लेता है। स्त्रियों के हृदय की हलचल का जो अधूरा ज्ञान हमें अभी तक प्राप्त है उसका दूसरा कारण यह है कि उस हृदय का विश्लेषक अभी तक अधिकतर पुरुष-हृदय रहा है। नारी-हृदय के प्रेम का विश्लेषण ठीक से नारी-हृदय ही कर सकता है। साहित्य के क्षेत्र में स्त्री-लेखिकाओं की संख्या अभी तक बहुत ही न्यून रही है, इसी से यह काम अपूर्ण ही पड़ा है। परिणाम यह होता है कि स्त्रियों के सम्बन्ध में हृदय के बहुत से विश्लेषण निजी धारणाओं के विकृत परिणाम-मात्र होते हैं। प्रमाण यह है कि इधर कवि ने अपना सारा जीवन दैवी-प्रेम की अनुभूति में व्यतीत कर दिया और उधर फ्रॉयड का अनुयायी अपने ही अनुमान लगाए चला जा रहा है!

प्रेम, क्योंकि अनुभूति-साध्य विषय है; अतः उसमें कौन कितना गहरा उतर गया है। यह काव्य में उसकी अपनी अंतर्दशाओं और शरीर पर उनकी प्रतिक्रियाओं के चित्रण से जाना जा सकता है। आधुनिक हिन्दी कविता में व्यक्तिगत सुख-दुख से सम्बन्धित मनोविकारों के विश्लेषण और वर्णन की ओर बहुत ध्यान दिया गया है। इस दिशा में श्री जयशङ्कर प्रसाद को अत्यधिक सफलता मिली। मनोविकारों को मूर्त रूप देने और उनके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म सूत्रों तथा गहरे-से-गहरे पटलों को देखने-दिखाने में उन्हें विशेष आनन्द आता

था। महादेवी मनोभावों में डूबने के साथ-ही-साथ उनके कायिक प्रतिवर्तनों की सजीव मूर्तियाँ भी अत्यन्त कौशल से प्रस्तुत करती हैं।

किशोरावस्था और यौवन के संगम के कुछ ऐसे विलक्षण पल होते हैं जो प्रत्येक बालिका के शरीर और मन में नवीन परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। उन परिवर्तनों और अनुभूतियों का अर्थ उस समय वह मुग्धा स्वयं नहीं समझ पाती। हिन्दी मे रीति-काल के कवियों ने इस दशा के बड़े मादक वर्णन किये हैं। प्राचीन भावज्ञों में विद्यापति ने इस अवस्था का चित्र खींचते-खींचते रस का सागर ही लहरा दिया है। भावुक पुरुष ही प्रणय की इस भूमि के दर्शन रस-लोलुपता की दृष्टि से करते कराते हैं या स्त्रियाँ भी ऐसा अनुभव करती हैं, यह मैं कभी-कभी सोचा करता था। आशा नहीं करता था कि महादेवी जी भी किसी मुग्धा का चित्र खींचेंगी। सहसा एक दिन इस रचना पर दृष्टि पड़ी—

सजनि तेरे दृग बाल !
चकित से विस्मित से दृग बाल—
आज खोये से आते लौट,
कहाँ अपनी चंचलता हार ?
झुकी जातीं पलकें सुकुमार,
कौन से नव रहस्य के भार ?
सरल तेरा मृदु हास !
अकारण वह शैशव का हास—
बन गया कब कैसे चुपचाप,
लाज भीनी सी मृदु मुस्कान
तड़ित् सी जो अधरों की ओट,
झाँक हो जाती अन्तर्धान !
सजनि वे पद सुकुमार !
तरंगों से द्रुतपद सुकुमार—
सीखते क्यों चंचल गति भूल,
भरे मेघों की धीमी चाल !

तृषित कन-कन को क्यों अलि चूम,
अरुण आभा सी देते ढाल ?
मुकुर से तेरे प्राण !
विश्व की निधि से तेरे प्राण—
छिपाये से फिरते क्यों आज,
किसी मधुमय पीड़ा का न्यास ?
सजल चितवन में क्यों है हास,
अधर में क्यों सस्मित निश्वास ?

—रश्मि

प्रेम का पहिला लक्षण है अंतर में एक प्रकार की कोमलता का जग पड़ना। जहाँ आकर्षण ने जन्म लिया नहीं कि व्यक्ति मधुरता मिश्रित किसी शीतल विह्वलता का अत्यन्त तीव्र अनुभव करने लगता है। उस समय एक से एक कोमल, एक से एक मधुर, एक से एक काव्यमयी भावनाएँ न जाने अन्तःसंज्ञा के किस स्तर के उद्गम से उमड़कर ओठों तक आती है जिनमें से कुछ व्यक्त हो जातीं हैं और कुछ मूक रहकर प्रेमास्पद की इंगित को निहारती रहती हैं। उस समय इच्छा होती है कि हमारे पास जो कुछ है, वह अपने नेही के चरणों पर न्योछावर कर दें, किसी प्रकार हम केवल उसकी एक स्निग्ध चितवन और मधुर मुसिकान के अधिकारी हो सकें। उसे प्रसन्न देखने की इच्छा और भी अनेक रूप धारण करती है। उनमें से एक है अपने शरीर को उपयुक्त वेश-भूषा से संयुक्त करना। शृङ्गार, जो मन के उत्साह और आह्लाद का सूचक है, अपने ही को नहीं दूसरे को भी प्रसन्न करने के लिए किया जाता है। यह सरस उदाहरण एक बार फिर उद्धृत करना पड़ रहा है :—

(१) लौकिक शृङ्गार :—

रंजित कर दे यह शिथिल चरण ले नव अशोक का अरुण राग,
मेरे मंडन को आज मधुर ला रजनीगंधा का पराग,
यूथी की मीलित कलियों से

अलि दे मेरी कवरी सँवार !
लहराती आती मधु - बयार !

—सांध्यगीत

(२) आध्यात्मिक शृङ्गार :—

शशि के दर्पण में देख-देख,
मैंने सुलझाये तिमिर केश,
गूँथे चुन तारक-पारिजात,
अवगुंठन कर किरणें अशेष;
क्यों आज रिझा पाया उसको
मेरा अभिनव शृङ्गार नहीं ?

—सांध्यगीत

महादेवी जी के काव्य में दुःख-पक्ष की प्रधानता है। उसका अधिकांश विरह-वेदना समन्वित है। इसी से उसमें आँसुओं के उल्लेख की प्रचुरता है। इच्छा होती है मैं महादेवी को आँसुओं की देवी कहूँ। उनके काव्य में प्रवाहित पीड़ा-धारा में आंतरिक वृत्ति के देर तक निमग्न होते ही एक प्रकार की मनो-व्यथा का अनुभव पाठक को होने लगता है। इन पंक्तियों को फिर देखिए:—

पुलक पुलक उर, सिहर सिहर तन,
आज नयन आते क्यों भर भर ?
सकुच सलज खिलती शेफाली,
अलस मौलश्री डाली डाली,
बुनते नव प्रवाल कुंजों में
रजत श्याम तारों से जाली,
शिथिल मधु पवन गिन गिन मधुकण,
हरसिंगार झरते हैं झर झर !
आज नयन आते क्यों भर भर ?

—नीरजा

ज्योत्स्ना-धौत वासंती निशा है। मलय-पवन बह रहा है। नायिका उद्यान

में है। पुष्पों की भीनी गंध, समीर का रोमांचकारी स्पर्श और उजली चाँदनी का रम्य दर्शन उसके प्राण, तन और नयन में मादकता भरकर संज्ञाहीनता का आह्वान कर रहे हैं। ऊपरी दृष्टि से देखने पर ये पंक्तियाँ मधुऋतु की रजनी का सामान्य वर्णन सा प्रतीत होती हैं। पर कवयित्री एक-एक साँस में न जाने कितनी बातें सोच रही है? शेफाली उसकी ही आँखों के सामने सकुचा रही है, लजा रही है, खिल रही है। उसे तो ऐसा अवसर कभी नहीं मिला कि किसी की समीपता प्राप्त करके वह भी एक पल को सकुचा पाती, लजा लेती, खिल उठती। सारा यौवन प्रतीक्षा में ही ढल गया, मन के सारे अरमान आँसू बन कर ही बिखर गए, समस्त जीवन केवल सूनेपन में ही परिवर्तित हो गया। डाली-डाली पर मौलश्री आज अलसा कर शयन कर रही है। मधु-पवन का उसे मादक परस मिला है। इतने पर भी वह न अलसायेगी? पर उसके जीवन में विद्युत् स्पर्श तो बहुत दूर, दर्शन भी दुर्लभ हो उठा है। कभी होगा भी अथवा नहीं, इसका ही अब क्या भरोसा है! कुंजों के नीचे झरते हरसिंगार की शय्या पर तम और चाँदनी आलिंगन-पाश में बंधे पड़े हैं। और यह मधु-पवन! इसे देखो, इस लोभी ने इतने मधु का संचय किया है कि उसके भार से इससे चला भी नहीं जाता। पर कितना अजान, कितना निष्ठुर है अपना प्रेमी जो हृदय के मानस को सूखते देख रहा है और आता नहीं। अंतर भर उठता है, शरीर सिहर उठता है और आँसू की बूँदें बरौनियों में उलझ कर रह जाती हैं। पर इससे लाभ? सब व्यर्थ है! सब विषाद-पूर्ण! सब सारहीन! विरह सत्य है! प्रतीक्षा सत्य है!! व्यथा सत्य है!!!

चिंतन और साधना की दृष्टि से महादेवी जी को एकान्त, घोर निस्तब्धता और तम अत्यंत प्रिय हैं। तन्मयता के लिए इन तीनों की स्थिति अनिवार्य है। यद्यपि प्रत्येक आलोचक ने उन पर यह आक्षेप किया है कि उनका काव्य कल्पना-प्रसूत है, पर उनकी कुछ रचनाओं को ध्यान से पढ़ने पर यह आरोप मुझे सारहीन प्रतीत होता है। 'दीपशिखा' के पाँचवें, तेईसवें, उन्तीसवें और पचासवें गीत किसी प्रकार भी काल्पनिक नहीं हो सकते। उनके परिणाम क्रियात्मक ही हैं, नहीं तो अर्थ की संगति बैठ ही नहीं सकती। मेरा

विश्वास है कि वे अपने एकान्त क्षणों में कभी-कभी उस लीनता को प्राप्त होती हैं जो जीव का परम लक्ष्य और सिद्धि है।

इच्छा :

इस असीम तम में मिलकर
मुझको पल भर सो जाने दो। —नीहार

कारण :

करुणामय को भाता है
तम के परदे में आना। —नीहार

क्रिया :

मैं आज चुपा आई 'चातक',
मैं आज सुला आई 'कोकिल',
कंटकित 'मौलश्री', 'हरसिंगार'
रोके हैं अपने श्वास शिथिल ? —सांध्यगीत

फल :

मेरे नीरव मानस में
वे धीरे धीरे आये ? —नीहार

पीछे निर्देश कर चुके हैं कि महादेवी जी के काव्य में मिलन के चित्र विरल हैं। 'रश्मि' की एक रचना में वे अपने को उस अज्ञात प्रियतम से घिरा पाती हैं। उस प्रकार के आभासों में श्रवण, नयन, घ्राण और स्पर्श सभी इन्द्रियों को थोड़ी देर के लिए तृप्ति प्राप्त होती है :—

श्रवण-सुख—

तब बुला जाता मुझे उस पार जो
दूर के संगीत-सा वह कौन है ?

नयन-सुख

तब चमक जो लोचनों को मूँदता,
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है ?

घ्राण और स्पर्श-सुख—

सुरभि बन जो थपकियाँ देता मुझे
नींद के उच्छ्‌वास सा वह कौन है ?

'दीपशिखा' में हमने उनके ही मुख से सुना है कि रात की पराजय-रेख धोकर उषा ने किरण-अक्षत और हास-रोली से स्वस्तिवाचन करते हुए उनका विजय-अभिषेक किया है। अब वे मिलन-मन्दिर में प्रवेश करने वाली हैं। उस नर्म-कथा, उस रहस्य-वार्ता के कुछ स्वर दूसरों के कानों तक भी शीघ्र पहुँच पाएँगे, ऐसी आशा लिए हम बैठे हैं।

कला

किसी कृति के कलात्मक होने के लिए अनिवार्य गुण तो यही है कि कोई सुकवि हो। पर सुकवि हम किसे कहें, यह विवादास्पद हो सकता है। भावुक व्यक्ति सुकवि हो सकता है, शिक्षित व्यक्ति सुकवि हो सकता है, अभ्यास से सामान्य व्यक्ति सुकवि हो सकता है और केवल वाणी के अनुग्रह या प्रतिभा के बल पर कोई व्यक्ति अमर हो सकता है। केवल भावुकता के बल पर, केवल शिक्षा के बल पर, केवल अभ्यास के बल पर, और केवल प्रतिभा के बल पर साहित्य के इतिहासों में अपने नाम छोड़ जाने वाले कवि किसी भी देश और किसी भी समृद्ध साहित्य में मिल सकते हैं। प्रकृति ऐसा अन्याय तो नही करती कि जिसे प्रतिभा दे, उसे हृदय न दे, जिसे हृदय दे उसे शिक्षा प्राप्त करने का संयोग न दे और जिसने पुस्तकों का ढेर लगा दिया हो उसमें कहीं भी प्रतिभा की झलक न हो। पर प्रतिभा, भावुकता और विद्वत्ता के संयोग का वरदान शताब्दियों में किसी तुलसी, किसी रवीन्द्रनाथ, किसी जयशङ्कर प्रसाद और किसी महादेवी को मिल पाता है!

कला-पक्ष अभिव्यक्ति-पक्ष है। पर अभिव्यक्ति की पंखुरियाँ खोलने के लिए उस वस्तु-सुमन के स्वरूप पर भी विचार करना आवश्यक होता है जिसकी वे पंखुरियाँ हैं। महादेवी के हृदय से निकले गीतों का आलंबन ब्रह्म है जो स्वयं निर्विकार रहने पर भी सभी परिवर्तनों की आश्रय-भूमि है, जो इस विराट् विश्व के मुकुर-भवन में अलक्ष्य रूप से बन्दी होकर समस्त प्रतिबिंबों का आधार है, जिसमें 'नाम' 'रूप' की भ्रांति हो रही है, जो अखिल सौंदर्य का अजस्र स्रोत है। प्रणय-निवेदन के लिये इससे ऊँचे, इससे स्थायी, इससे सुन्दर, इससे आकर्षक आलंबन की कल्पना भी नहीं हो सकती। जब प्रेम करना ही है तो ऐसे स्नेही का सहारा क्यों न लिया जाय जो आत्मा को ऊँचा उठावे? जलना ही है तो ऐसे क्यों न जला जाय जिससे निर्मल कोमल आलोक फैले? रोना ही है तो ऐसे क्यों न रोया जाय जो मन की मलिनता को धो दे? सौंदर्यो-

पासना करनी है, तो ऐसे सुन्दर से अनुराग क्यों न किया जाय जिसका रूप अक्षय हो? महादेवी जी की कला का जन्म अक्षय सौंदर्य के मूल से, दिव्य प्रेम के भीतर से, अलौकिक प्रकाश की गुहा और पावन उज्ज्वल आँसुओं के अन्तर से हुआ है।

(गीतों की परम्परा यों सीधी वेदों से स्थापित की जा सकती है, पर हमारी भाषा की अमराई में सबसे पहिले स्वर-संधान मैथिल-कोकिल विद्यापति ने किया) विद्यापति के पद मिथिलानरेश के अंतःपुर को एक दिन गुंजायमान करते थे और आज भी उस भूमि में अपने रस-वर्णन के प्रभाव से सहस्र-सहस्र कोकिल-कंठी वनिताओं द्वारा हाट, बाट, उत्सव और एकान्त में गाए जाते हैं। इस माधुर्य ने ही बंगालियों के हृदय में यह लोभ उत्पन्न किया कि जिस प्रकार हो विद्यापति को बँगला-कवि सिद्ध किया जाय। बंगाल के अनेक गण्य-मान वैष्णव कवियों पर इस 'अभिनव जयदेव' का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। विद्यापति के पदों को गुनगुनाते ही मधुर कंपन की असंख्य विद्युत लहरियाँ समस्त शिरा-उपशिराओं में तीव्र गति से प्रवाहित होने लगती हैं। पर विद्यापति की भक्ति-भावना ने माधुर्य-भाव का आश्रय लेकर राधाकृष्ण के एकान्त-जीवन के जिस लीला-रस को इन पदों में भरा उसका आस्वादन स्थूल दृष्टि वालों को कठिन पड़ता है। यही कारण है कि विद्यापति को बहुतों ने घोर शृङ्गारी की संज्ञा दी। विद्यापति के उपरांत कबीर ने अपनी खंजरी सँभाली और एका-ग्रता की मस्ती में सैकड़ों पद उनके ज्ञान निर्झर से निसृत हुए। उनका अधि-कांश व्याकरण की अव्यवस्था से पंगु और हठयोग के ताने-बाने से उलझा हुआ है। तब एक आँधरा गायक उठा जिसने अपने इकतारे पर एक लाख पद तैरा दिए और अपनी बन्द आँखों से नवनीत-चोर के प्रेम की असंख्य रंगीनियों को चित्रित किया। सूर के सजग होते ही न जाने कितनी राग-रागि-नियाँ सजग हो उठीं। उस गायक की तानें आज भी भारतीय संगीतज्ञों की साधना की वस्तु हैं। पर काव्य के क्षेत्र में सूर में भाव और भाव-विस्तार में कोई अनुपात नहीं है, अर्थात् उन्होंने एक-एक बात को अनेक पदों में गा-गा कर एकरस कर दिया है। यह बात उनके चार-पाँच हजार उपलब्ध पदों को

एक ओर से पढ़ने पर अनुभव की जा सकती है। सूर के पदों का चयन जितना प्रभावशाली प्रतीत होता है उतना उनका संग्रह नहीं। उनके समकालीन महात्मा तुलसीदास की गीतावली और विनय-पत्रिका भी इस क्षेत्र में महत्त्व रखती हैं। तुलसी भी सूर की भाँति राग-रागिनियों के प्रजा के सम्राट् थे। गीतावली की पृष्ठभूमि में कथानक की धारा बहती है, अतः वे पद उतने संगीतात्मक नहीं हैं जितने वर्णनात्मक। गीतावली के कुछ प्रारम्भिक पद, जिनमें कोई-कोई पचास पंक्तियों तक का है, और विशेष रूप से उत्तर काण्ड के पद, इसी प्रकार के हैं। विनय-पत्रिका के कुछ पद प्रायः गाए जाते हैं, पर कुछ चुने पद ही। उनमें से पचास से ऊपर तो संस्कृत की दीर्घ समास-पद्धति के अनुकरण के कारण बुद्धि के लिए यहाँ तक बोझिल हैं कि संगीत-प्रेमी तो क्या साहित्य के विद्यार्थी के प्राण भी उनसे घबराते हैं और उनकी सबसे बड़ी उपयोगिता पुस्तक में प्रकाशित होना ही है। शेष पर उपदेश का रंग, बहुत गहरा है जिसे अधिक मात्रा में पचाना सहज नहीं है। पदावली के गुणों की बहुलता और दोषों की अत्यधिक न्यूनता को लेकर चलने वाला काव्य केवल एक ही 'दरद दिवानी' का है।—और वह है मीरा। मीरा में स्वर लहरियाँ ही जैसे साकार हो गई हैं। मीरा ने रो-रो कर गाया है; अतः उसके शब्द-शब्द में क्रन्दन बंदी है, जिसके उच्चारण मात्र से हृदय भर-भर उठता है। पर वह इतनी बावली भी थी कि भावावेश में कहने-न-कहने की सब बातों को बिना हिचक कह देती थी।

अर्वाचीन गीति-काव्य प्राचीन पदावली-साहित्य से भिन्न कोटि का है। पदावली साहित्य के साँचे भारतीय संगीत की राग-रागिनियाँ हैं और तुलसी को छोड़कर मात्राओं की पूर्ति का ध्यान सभी स्थलों पर विद्यापति, कबीर, सूर, मीरा आदि किसी ने नहीं रखा। वहाँ लय से सब पूरा हो जाता है। आधुनिक काल में उन ढाँचों की ओर थोड़ा बहुत आग्रह केवल निराला जी का ही है। आज का गीति-काव्य अँग्रेजी और बँगला गीति-काव्य की प्रतिस्पर्द्धा में खड़ा किया गया है। पर उसमें सब कुछ अपना है—अपने पिंगल का अनुकरण है, अपनी भाव-भंगिमा है, अपना स्वर-संशोधन है। प्रसाद ने अपने नाटकों

और लहर पुस्तिका में, पंत ने गुञ्जन में और निराला ने गीतिका में कुछ बहुत ही मधुर गीत हिन्दी जगत को भेंट किए हैं। गीति-काव्य के क्षेत्र में श्री हरिवंशराय 'बच्चन' को विद्युत्-गति से सफलता और ख्याति प्राप्त हुई। उनकी रचनाओं में संक्षिप्तता, स्वर-माधुर्य, भाव-विभूति और आत्माभिव्यंजन के सभी अनिवार्य गुण एकत्र हैं। वे स्वाभाविक जीवन के सफल गायक हैं। सुख दुःख दोनों से उनका गहरा परिचय है। अनुभूति की कृत्रिमता उनमें कहीं नहीं पाई जाती। चिर वियोग के क्षेत्र मे जैसे 'निशा निमंत्रण' अंतर को कसक से भर देता है; वैसी ही मिलन के क्षेत्र में 'सतरंगिनी' 'मिलन यामिनी' और 'प्रणय पत्रिका' के गीत पाठक के मानस में सुख के असंख्य शतदल खिला जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि इस युग के कवियों में 'बच्चन' जी अपने ढंग के अकेले गीतकार हैं। प्रसाद, निराला और पन्त को अपने-अपने क्षेत्र में अद्‌भुत सफलता मिली। ये तीनों ही कवि हिन्दी के प्रथम श्रेणी के कवियों में हैं। पर फिर भी तीनों में कुछ ऐसा है जो उनके गीति-काव्य को पूर्णता प्राप्त नहीं होने देता। प्रसाद के नाटकों में अधिकांश गीतों का भाव के भीतर भाव और उस भाव के भीतर भी भावों का गुम्फन होने से आकर्षण एकदम कुंठित हो गया है। लहर में दो-एक गीतों को छोड़ भाव का सूत्र चिंतन की इतनी गहराई में मिलता है जहाँ पहुँचने का कष्ट पाठक सामान्य रूप से नहीं उठाता। निराला ने गीतिका में सहज-भाव से नहीं लिखा। पहिले उन्होने साँचे तैयार कर लिए हैं और फिर उनमें शब्दों की स्थापना की है, लय और विशेष रूप से अनुप्रास का प्रयोग बहुत सचेष्ट हो कर उन्होंने किया है। खराद की तराश उन रचनाओं में बहुत है। उनमें स्वरों का उतार-चढ़ाव तो है, पर भावों की गहराई नहीं, अलाप की मधुरता तो है पर दर्द या आह्लाद की अतिशयता नहीं। पन्त का गुञ्जन आकर्षण का गुञ्जन है। उनकी रचनाओं में बाह्य-सौंदर्य की इन्द्रधनुषी रेखाएँ तो हैं, पर किसी गहरी चोट का निदर्शन उनमें नहीं है। इसी से वे अंतर में पैठती नहीं। संयोग-काल की 'आज रहने दो यह गृहकाज' जैसी विलक्षण माधुर्य-सम्पन्न रचना दूसरी दिशा में है ही नहीं।

'नीरजा' की सृष्टि के साथ गीति-काव्य की परम्परा महादेवी में जैसे अपनी

पूर्णता को पहुँच गई। उनका मानस भी तरंगायित है, पर तट को नहीं डुबाता; दर्शन की वे भी पंडिता हैं, पर माया और मन के विकारों पर ही दृष्टि गड़ाये रखना उनका काम नहीं; भाव-गांभीर्य उनमें भी है, पर शुष्कता बचाकर; भारतीय संगीत से उनका भी परिचय है, पर कलाबाज़ियों को नमस्कार करके; अलंकारों का प्रयोग वे भी करती हैं, पर अनायास ही, अकृत्रिमता से। उनके गीतों को अनेक बार दुहराने पर भी मन जैसे तृप्त नहीं होता—

१

गूँजती क्यों प्राण-वंशी ?
शून्यता तेरे हृदय की
आज किसकी साँस भरती ?
प्यास को वरदान करती,
स्वर-लहरियों में बिखरती;
आज मूक अभाव किसने कर दिया लयवान वंशी ?
अमिट मसि के अंक से
सूने कभी थे छिद्र तेरे,
पुलक के अब हैं बसेरे,
मुखर रङ्गों के चितेरे,
आज ली इनकी व्यथा किन उँगलियों ने जान वंशी ?
गूँजती क्यों............................

—दीपशिखा

—२—

मैं पलकों में पाल रही हूँ यह सपना सुकुमार किसी का !
जाने क्यों कहता है कोई,
मैं तम की उलझन में खोई,
धूममयी वीथी वीथी में
लुक छिप कर विद्युत्-सी रोई
मैं कण-कण में ढाल रही अलि आँसू के मिस प्यार किसी का !

पुतली ने आकाश चुराया,
उर ने विद्युत्-लोक छिपाया,
अंगराग-सी है अंगों में
सीमाहीन उसी की छाया
अपने तन पर भाता है अलि जाने क्यों शृङ्गार किसी का !
मैं कैसे उलझूँ इति अथ में,
गति मेरी संसृति है पथ में,
बनता है इतिहास मिलन का
प्यास भरे अभिसार अकथ में,
मेरे प्रति पग पर बसता जाता सूना संसार किसी का!

—दीपशिखा

(३)

घिरती रहे रात ?
न पथ रूँधतीं ये
गहनतम शिलायें;
न गति रोक पातीं
पिघल मिल दिशायें
चली मुक्त मैं ज्यों मलय की मधुर वात !
न आँसू गिने औ'
न काँटे सँजोये,
न पगचाप दिग्भ्रांत
उच्छ्वास खोये;
मुझे भेंटता हर पलक-पात में प्रात !
स्वजन ? स्वर्ण कैसा
न जो ज्वाल,धोया ?
हँसा कब तड़ित में
न जो मेघ रोया !

लिया साध ने तोल अंगार—संघात !
घिरती रहे........

—दीपशिखा

छन्द सभी मात्रिक हैं, और वे पूरे उतरते हैं ! रश्मि की दो रचनाएँ—अलि और पपीहे पर—दुर्मिल सवैया होने के कारण वर्णवृत्त में सम्मिलित हो सकती हैं; पर उनमें भी 'सगण' (IIS) का निर्वाह ठीक रूप से नहीं हुआ यद्यपि वर्ण प्रत्येक पंक्ति में प्रथानुसार २४ ही हैं।

मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त अनेक लोक-गीतों में महादेवी जी ने नवीन प्राण-प्रतिष्ठा की है। गीतों में टेक की विविधता से एक प्रकार की नूतनता, मौलिकता और मुग्धता भरी हुई है ! इनमें जो कोमलता, जो गूँज है उसकी प्रशंसा सामर्थ्य के बाहर है ! केवल स्वर-साधन से उनके प्रभाव का परिज्ञान हो सकता है। उनमें संगीत का वह मोहन-मंत्र है जो मन को लोरी देकर स्वप्नाविष्ट करने की शक्ति रखता है ! नीरजा से बढ़कर सांध्य-गीत और साध्य-गीत से बढ़कर दीपशिखा में उनको स्वर लहरी कोमल से कोमलतर और कोमलतर से कोमल तम हो गयी है। जीवन के अगाध अकूल क्षार सिन्धु से कितनी एकात रातों में व्यथित प्राणों की रई के संचालन से यह अमृत-मंथन हुआ है, कहा नहीं जा सकता।

आधुनिक हिन्दी कविता के सम्बन्ध में यह शिकायत अभी तक बनी हुई है कि वह स्पष्टता से समझ में नहीं आती। शिकायत करने वालों में कुछ तो प्राचीन संस्कारों से पूर्ण व्यक्ति हैं, जिनका काम केवल नवीनता का विरोध करना है, पर अधिकतर व्यक्ति ऐसे हैं, जो वास्तव में काव्य के प्रेमी हैं पर आधुनिक कविता की भाव-प्रणाली तथा वर्णन-पद्धति से परिचित न होने के कारण उसके रस को ग्रहण करने में असमर्थ रहते हैं।

आधुनिक कविता में शब्दों का सामान्य अर्थ सर्वत्र नहीं है। जब कवि समुद्र, निर्झर, मणि अथवा दीपक का नाम लेता है तब उसका तात्पर्य आत्मा से होता है; जब तम कहता है तब निराशा अथवा अज्ञान की चर्चा करता है; जब हास्य अथवा रश्मि पर कविता लिखता है तब उसके दृष्टि-पथ में आशा

और ज्ञान होते हैं; इसी प्रकार जब पथिक या पक्षी को सम्बोधन करता है तब वास्तव में साधक उसकी कल्पना में घूमता है। इस प्रकार आज की कविता प्रतीकों, समासोक्तियों, रूपकों और लाक्षणिक प्रयोगों की चहार-दीवारी के भीतर भावों के उस भवन में जिसके द्वार तक विभिन्न वादों की सीढ़ियाँ गई हैं, जहाँ विचार और कल्पना पहरेदार हैं, बैठी है। उस तक पहुँचने के लिए थोड़े मानसिक श्रम और श्रद्धा के सम्बल की आवश्यकता है।

महादेवी जी का काव्य अत्यधिक सांकेतिक है, इसी से कहीं-कहीं दुरूह-सा लगता है। वे भी अपनी बातों को प्रतीकों के माध्यम से कहती हैं। इनमें कुछ प्रतीक तो परिचित होने के कारण बुद्धिगम्य रहते हैं—जैसे सागर संसार के लिए, तरी जीवन के लिए, पतवार साहस के लिए, जलचरवृन्द कुवासनाओं के लिए; अथवा तम अज्ञान के लिए, प्रकाश ज्ञान के लिए; इसी प्रकार वीणा के तार हृदय के भावों के लिए, गायक साधक के लिए।

कुछ प्रतीक, जिनका व्यवहार प्रचुरता से नहीं होता या भिन्न अर्थ में होता है, तात्पर्य ग्रहण कराने में थोड़ी बाधा उपस्थित करते हैं। शलभ की गणना चातक और मीन के साथ आदर्श प्रेमियों में होती रही है, पर महादेवी जी ने जहाँ आत्मा की दीपक रूप में कल्पना की है वहाँ शलभ को मोहमूलक सांसारिक आकर्षण मानकर उसकी अवज्ञा की है या फिर उसके प्रति दया दिखलाई है :—

(अ) शलभ मैं शापमय वर हूँ!
किसी का दीप निष्ठुर हूँ!
शून्य मेरा जन्म था
अवसान है मुझको सवेरा
प्राण आकुल के लिये
संगी मिला केवल अँधेरा
मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ।
नयन में रह किन्तु जलती
पुतलियाँ अंगार होंगी;

प्राण में कैसे बसाऊँ
कठिन अग्नि—समाधि होगी !
फिर कहाँ पालूँ तुझे मैं मृत्यु—मंदिर हूँ !

—सांध्यगीत

(आ) शेष यामा यामिनी मेरा निकट निर्वाण !
पागल रे शलभ अनजान !
कर मुझे इंगित बता किसने तुझे यह पथ दिखाया ?
तिमिर में अज्ञातदेशी क्यों मुझे तू खोज पाया ?
अग्निपन्थी मैं तुझे दूँ
कौन सा प्रतिदान ?

—दीपशिखा

'इन हीरक के तारों को कर चूर बनाया प्याला' की उद्धरणी कल्पना की उत्कटता दिखाने के लिए कई लेखों में हुई है। तारे महादेवी जी के काव्य में लौकिक भावों के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। नीहार की निम्नलिखित पंक्तियों को दीपशिखा के अनेक उद्धरणों की संगति में मिलाकर पढ़िये। आश्चर्य है कि वे एक स्थल पर भी नहीं भटकी हैं !

(१) इन हीरक से तारों को
कर चूर बनाया प्याला,
पीड़ा का सार मिलाकर
प्राणों का आसव ढाला !

(२) (अ) भीत तारक मूँदते दृग।
(आ) झर गए खद्योत सारे
तिमिर वात्या चक्र में सब
पिस गए अनमोल तारे !
(इ) झर चुके तारक-कुसुम जब !
(ई) राख से अंगार तारे झर चले हैं !

किसी भी एक निश्चित अर्थ में प्रतीक का प्रयोग होने पर कभी अर्थ में

व्याघात नहीं उत्पन्न होगा। महादेवी जी के ऋतु सम्बन्धी प्रतीक लीजिये। वे ग्रीष्म का प्रयोग रोष के लिये, वर्षा का करुणा के लिए, शिशिर का जड़ता के लिए, पतझर का दुःख के लिए और वसन्त का आनन्द के लिए करती हैं। यहाँ तक तो ठीक है। पर एक प्रतीक का प्रयोग एक ही भाव के लिए हो, उनके यहाँ ऐसा नियम नहीं है। जहाँ शिशिर से उनका तात्पर्य जड़ता से है, वहाँ मधुऋतु का कहीं कहीं चेतना से भी है। भावों के लिए ही उन्होंने कहीं 'वीणा के तार' लिखा है, कहीं 'कलियों के उच्छ्वास' और कहीं 'उज्ज्वल तारे'। बुद्धि के लिए कहीं उन्होंने 'जुगनू' लिखा है, कहीं 'नक्षत्र प्रकाश'। सुख के लिए जहाँ 'मधु' का प्रयोग करती हैं, वहाँ 'रश्मि' और 'मलय-पवन' का भी। आँसुओं का भाव उन्होंने 'नक्षत्रों' से भी ग्रहण किया है, 'मकरन्द' से भी, 'मोती' से भी और 'तुहिन-कण' से भी। जीवन का अर्थ वे 'तरी' से ही नहीं खींचतीं, 'वसंत' 'प्याली' और 'लहर' से भी। जड़ता को 'शिशिर' में ही निहित नहीं कर दिया, 'रज' को भी उसके लिए अपनाया है। इच्छाओं के लिए किसी स्थल पर 'मकरन्द', किसी पर 'सौरभ', किसी पर 'इन्द्रधनुष के रंगों' से काम निकाला है। कहने का तात्पर्य यह है कि आकार अथवा वर्ण साम्य पर प्रतीकों का अर्थ लगाते हुए भी प्रसंग पर बहुत कुछ निर्भर रहना पड़ता है। प्रसंग का ध्यान न रखने से भ्रांत हो जाना असम्भव नहीं। कुछ प्रतीक देखिए :—

—नीहार—

(१) बिखरे से हैं तार आज,
मेरी वीणा के मतवाले।

(२) तरी को ले जाओ मँझधार,
डूबकर हो जाओगे पार।

—रश्मि—

(३) इन कनकरश्मियों में अथाह,
लेता हिलोर तमसिंधु जाग।

(४) ढुलक जो पड़ी ओस की बूँद

विश्व के शतदल पर अज्ञात
तरल मोती सा ले मृदु गात,
नाम से जीवन से अनजान,
कहो क्या परिचय दे नादान !

—नीरजा—.

(५) इसमें न पङ्क का चिन्ह शेष,
इसमें न ठहरता सलिल लेश,
इसको न जगाती मधुप-भीर।

—सांध्यगीत—

(६) क्या न तुमने दीप बाला ?
यह न झंझा से बुझेगा
बन मिटेगा, मिट बनेगा
भय इसे है हो न जावे
प्रिय तुम्हारा पन्थ काला।

—दीपशिखा—

(७) मुझे भेंटता हर पलक-पात में प्रात !
घिरती रहे रात !

खड़ी बोली उतनी ही पुरानी है जितनी ब्रज और अवधी। सूफी कवियों, तुलसी और रहीम ने यद्यपि अवधी को गौरव प्रदान किया, पर हिन्दी में एक-छत्र राज्य रहा ब्रजभाषा का। कवियों की शताब्दियों की साधना से ब्रजभाषा में वह माधुर्य भर गया कि जब खड़ी बोली में पहिले-पहल कविता प्रारम्भ हुई, तब वाणी में लोच की हीनता पर प्राचीन काव्य के प्रेमियों ने उस बालिका का गला घोंट देना चाहा। क्षुब्ध होकर ब्रजभाषा के ऐसे अन्धभक्तों का विरोध बड़े आवेश के साथ पन्त जी ने 'पल्लव' के 'प्रवेश' में किया। आज स्थिति बदल चुकी है। जिन दिनों पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लेखनी सँभाली थी, तब से अब तक एक विराट् परिवर्तन उपस्थित हो चुका है। इन थोड़े दिनों में किसी अन्य भाषा ने प्रेमचन्द, प्रसाद, रामचन्द्र शुक्ल, श्याम-

सुन्दरदास, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, महादेवी, पंत और निराला जैसे साहित्यकार उत्पन्न किए हों पता नहीं।

हिन्दी के प्रायः सभी बड़े साहित्यकारों ने, जिनमें श्री मैथिलीशरण गुप्त और श्री सुमित्रानन्दन पंत मुख्य हैं, खड़ी बोली को काव्योपयोगी बनाने में बड़ा श्रम किया है। यों प्रसाद में 'वचन' की गड़बड़ी, पंत में स्त्रीलिंग-पुल्लिंग का विचित्र सम्मिश्रण, निराला में मनोनुकूल समास और शब्द-निर्माण पाया जाता है। मैथिलीशरण जी व्याकरण-सम्मत भाषा लिखते हैं, पर तुक मिलाते समय अनुपयुक्त और भरती के शब्दों का प्रयोग करने लगते हैं। महादेवी जी से भी प्रारम्भ में कुछ असावधानियाँ हुई हैं, पर गिनी चुनी। भाषा उनकी अत्यन्त परिष्कृत, अत्यन्त मधुर और अत्यन्त कोमल है। उसमें कहीं कर्कशता का चिन्ह नहीं। खड़ी बोली के कवियों में जो मसृणता उनकी भाषा में है, वह समरूप से किसी की भाषा में नहीं। पर्वत के टुकड़े नदी की धारा में बहुत दूर तक बहकर धीरे-धीरे अपने खुरदरेपन को खोते हुए जब चिकने हो उठते हैं, उस दूरी का पता उनकी भाषा से मिलता है। भाषा जैसे माधुर्य गुण की खराद पर उतार दी गई हो। इतना होते हुए भी मात्राओं की पूर्ति और तुक के आग्रह के लिए कुछ शब्दों का अंग-भंग, रूप परिवर्तन और अंग-वार्द्धक्य हो गया है जैसे 'बतास' 'अधार' 'अभिलाषें', 'ज्योती', 'अन्धकार', 'कर्णाधार' आदि। केवल कविता में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों का भी कहीं-कहीं प्रयोग है जैसे 'बैन' (वचन) नैन (नयन), आन (आ), बयार (वायु) हौले (धीरे)। कोमलता के लिए कहीं 'जोड़' के लिए 'जोर' लिख दिया है। कई स्थानों पर 'यह' शब्द का प्रयोग महादेवी जी ने 'बहुवचन' में किया है। 'यह' के स्थान पर 'ये' लिखना चाहिये। उपाध्याय जी ने भी यह भूल की है; पर उन्होंने भूमिका में उसे स्वीकार कर लिया है—"इस ग्रन्थ (प्रिय-प्रवास) में आप कहीं-कहीं बहुवचन में भी 'यह' और 'वह' का प्रयोग देखेंगे। मैंने ऐसा संकीर्ण स्थलों पर ही किया है। मेरा विचार है कि बहुवचन में 'ये' और 'वे' का प्रयोग ही उत्तम है।" महादेवी जी की यह प्रवृत्ति-सी दिखाई देती है। उपाध्याय जी में यह दोष इसलिए

क्षम्य है कि उन्होंने वर्णवृत्त लिए हैं। वर्णवृत्त में शब्दों की गिनती और लघु गुरु का ध्यान रखना पड़ता है; अतः जहाँ ऐसे प्रयोग न बचाए जा सकें वहाँ विवशता है। परन्तु महादेवी जी के गीतों और मात्रिक छन्दों के लिए यह आवश्यक नहीं है। वहाँ केवल मात्राओं की गिनती पूरी होनी चाहिए। 'यह' और 'ये' दोनों में मात्राएँ समान हैं। व्याकरण के इस बन्धन को तोड़ने के लिए केवल स्वरपात का तर्क ही कुछ उपस्थित किया जा सकता है। देखिए—

(१) दुखमद के चषक यह नयन।
(२) यह खिलौने और यह उर, प्रिय नई असमानता है।
(३) उड़ रहे यह पृष्ठ पल के।

साहित्य-जगत का यह एक बहुत बड़ा सत्य है कि जब कोई प्राणी पहले लेखनी उठाता है तब उसकी रचनाओं में भाव कम और शब्दों का बाहुल्य अधिक होता है। कुछ दिनों के उपरान्त भाव और भाषा का संतुलन हो जाता है और एक दिन ऐसा भी आता है जब वह थोड़े से थोड़े शब्दों में गहरे से गहरे भावों को सहज भाव से व्यक्त कर देता है। 'नीहार' में महादेवी जी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में हैं। 'नीरजा' तक आते-आते उनके भावों और भाषा में मैत्री स्थापित हो गई है और 'दीपशिखा' में तो उनके काव्य में पूर्ण प्रौढ़ता आ गई है। एक ही मेघ पर तीन ग्रंथों में उनके तीन चित्र देखिए और यह भी देखिए कि समय की दूरी ने किस प्रकार उन्हें सामान्य चित्रण से अलंकार-विधान और अलंकार-विधान से मार्मिक बात कहने की शक्ति दी—

(१) घोर तम छाया चारों ओर
घटाएँ घिर आईं घनघोर

—नीहार

(२) घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय!
जलधि-मानस से नव जन्म पा
सुभग तेरे ही दृग व्योम में,

सजल श्यामल मंथर मूक-सा
तरल अश्रु विनिर्मित गात ले;
नित घिरूँ झर झर मिटूँ प्रिय !
घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय !

—नीरजा

(३) सिन्धु का उच्छ्वास घन है !

—दीपशिखा

'नीहार' में आधुनिक हिंदी कविता की कुछ अन्य विशेषताएँ—शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग, अमूर्त वस्तुओं के लिए मूर्त योजनाएँ, भावों और प्राकृतिक रूपों के मानवीकरण—अधिक मात्रा में पाई जाती हैं; जिन्हें कुछ लोग चिढ़-कर दोषों में गिनते हैं। नीहार में सूनापन बिखरता, इच्छाएँ सिहरतीं, आशा मुस्कुराती, करुणा ढुलकती, आहें सोतीं, शून्य गाता, प्रभात हँसता, किरणें मचलतीं, चाँदनी रोती है। वहाँ कामना की पलकें और मलया-निल की अलकें देखने को मिलती हैं। आगे के काव्य-ग्रन्थों में ऐसे प्रयोग कुछ कम तो हो गये हैं, पर एकदम मिट नहीं गये। एक बार किसी लेखक की जो शैली निश्चित हो जाती है वह फिर कठिनाई से बदलती है।

कविता गद्य नहीं है, अतः कवि की कल्पना में जिस क्रम से बातें घूमती हैं, उन सभी का उसी क्रम से ब्यौरेवार उल्लेख करना न उसके लिये सम्भव है और न आवश्यक। पर कहीं-कहीं उसकी दृष्टि में जो दृश्य रहता है उसके किसी प्रमुख अंग के छूट जाने से बिना अध्याहार किये अर्थ नहीं खुलता। नीचे का गीत लीजिये :—

पुलक पुलक उर, सिहर-सिहर तन,
आज नयन आते क्यों भर-भर ?
सकुच सलज खिलती शेफाली
अलस मौलश्री डाली डाली;
बुनते नव प्रवाल कुञ्जों में
रजत श्याम तारों से जाली

शिथिल मधु पवन, गिन-गिन मधुकरण
हरसिंगार झरते हैं झर झर
पिक की मधुमय वंशी बोली,
नाच उठी सुन अलिनी भोली....

कोकिल के तान छेड़ते ही भ्रमरी नृत्य करने लगी। इसमें तो इतनी ही कल्पना से काम चल जायगा कि कोकिल के कूकते ही प्रभात होने का पता चला। प्रभात में अरुणोदय होगा। अरुणोदय होते ही कमल खिलेंगे। कमलों के खिलने पर भ्रमरी रसपान कर सकेगी। रसपान से आनन्द की उपलब्धि होगी। उसी मुग्धता की कल्पना में वह थिरक उठी है। पर 'बुनते नव प्रवाल कुंजों में रजत श्याम तारों से जाली' का अर्थ सहसा न खुल सकेगा। प्रवाल शब्द का उच्चारण करते ही उसका प्रसिद्ध अर्थ मूँगा यद्यपि ध्यान में आता है, पर प्रसंग उद्यान का है; अतः वह ठहरता नहीं। 'किशलय' का अर्थ लेना होगा-'अभी तो हैं ये नवल 'प्रवाल', नहीं छूटी तरु-डाल' ('पल्लव')। पर पल्लव भी सित-असित तारों से जाली कैसे बुन रहे हैं, समझ में नहीं आता! कल्पना करनी पड़ती है कि सम्भवतः कुंजों में ऊपर से चाँदनी छनकर बिखर रही है; अतः वृक्षों के नीचे ज्योत्स्ना और छाया का एक जाल सा बन गया है। प्रसाद ने भी लिखा है—

लिपटे सोते थे मन में
सुख दुख दोनों ही ऐसे,
चंद्रिका-अँधेरी मिलते
मालती-कुंज में जैसे

—आँसू

यह तो निश्चित है कि ये रचनाएँ शृङ्गार रस के अंतर्गत आयेंगी। इनमें 'आश्रय' महादेवी और आलंबन उनका अलक्ष्य प्रियतम है। रूढ़ि के अनुसार रति इनका स्थायी भाव है। विभिन्न रचनाओं में कहीं चाँदनी रात, कहीं पावस ऋतु, कहीं मलय-समीर उद्दीपन के रूप में आये हैं। सात्विकों में रोमांच, कम्प (सिहरन) और अश्रु का अधिक उल्लेख है। सञ्चारियों में विषाद और

स्मृति का बाहुल्य है। अभी संयोग पक्ष का रचनाओं में निर्देशन ही नहीं है; अतः विप्रलंभ शृङ्गार ही इनकी एक मात्र संज्ञा है। अध्यात्म-साधना को देव विषयक रति कहकर लक्षण ग्रन्थकारों ने उसे शृङ्गार की कोटि में रखा है। इच्छा होती है ऐसे उज्ज्वल रस का कोई और भला सा नाम होता।

एक विद्वान् का कहना है कि महादेवी की प्रेम-व्यंजना में रस-मग्नता नहीं, रसाभास है। उसके दो कारण उन्होंने दिए हैं। पहिला यह कि आलंबन अलक्ष्य है; दूसरे इस शृङ्गार में विरह वेदना ही विरह-वेदना है, सुखात्मक अनुभूति की गुँजाइश बहुत कम है। हिन्दी के कुछ आलोचकों में यह प्रवृत्ति बढ़ रही है कि या तो वे प्राचीन स्थिर सिद्धान्तों को सभी स्थलों पर लगाते चलते हैं या काव्य में प्रवेश करने से पहिले अपनी धारणाएँ निश्चित कर लेते हैं। रस-निष्पत्ति के प्रकरण में आचार्यों ने यह भी कहा है कि दर्शक या पाठक का भावज्ञ होना सबसे पहिली आवश्यकता है। नाट्यशाला में यों दर्शकों के साथ पत्थर के खम्भे भी खड़े होते हैं, पर उनमें कोई रस की निष्पत्ति देखना चाहे तो उसे निराश ही लौटना पड़ेगा। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार काव्य-प्रणेता में विधायक शक्ति का होना आवश्यक है, उसी प्रकार पाठक में ग्राहिका शक्ति की अवस्थिति भी। यह तो हुई किसी के काव्य को सहानुभूतिपूर्वक न पढ़ने की बात। अब रही यह बात कि जिस रूप में महादेवी जी अनुभव करती हैं—साधारणीकरण के लिए—उसी रूप में हम भी अनुभव करते हैं या नहीं? सामान्य दृष्टि से महादेवी जी का यह प्रेम व्यक्तिगत प्रतीत होता है—वे हैं, उनका प्रियतम है, उस प्रियतम से उनका विछोह हो गया है, उस वियोग में वे रात-दिन रोती रहती हैं। बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। अपनी रचनाओं में स्वयं महादेवी जी एक प्रतीक मात्र हैं। अर्थात् आश्रय के रूप में महादेवी नहीं, हम सबकी आत्मा हैं। इस दृष्टि से महादेवी के गीत, महादेवी के न होकर आत्मा के गीत हैं। केवल उनके प्रेम के गीत होने पर भी इन गीतों में ऐसी कोई बात नहीं है जिसके कारण हम उनसे तादात्म्य का अनुभव न कर सकें और आत्मा के गीत होने से तो किसी भावुक के लिए रस-मग्नता की कमी के खटकने की कोई बात ही नहीं उठती।

अलंकारों के क्षेत्र में महादेवी जी ने बड़ी सुरुचि का परिचय दिया है। काव्य में अलङ्कारों का विधान भावों को रमणीयता प्रदान करने के लिए होता है, या फिर उन्हें तीव्र अथवा स्पष्ट करने के लिए। उनका काव्य व्यंग्य-प्रधान है; अतः स्वभावतः उन्हें समासोक्ति से काम लेना पड़ा है। प्रस्तुत अर्थ से जहाँ अप्रस्तुत (किसी अन्य इच्छित) अर्थ का बोध होता है, वहाँ समासोक्ति होती है। यदि कहा जाय कि 'चन्द्रमा के दर्शन से कुमुदिनी खिल उठी' तो यह प्रकृति-जगत का तो सत्य है ही; परन्तु कवि इस कथन के द्वारा इस बात का संकेत करना चाहता है कि कोई प्रणयिनी अपने प्रेमी को दूर से आते देख पुलकित हो उठी है। अंतर में ज्ञान की रश्मियों के उदित होते ही अज्ञान का तम विदूरित होता है और जीव को अपूर्व विश्राम मिलता है। 'रश्मि' की प्रथम और 'दीपशिखा' की पचासवीं रचना में यही संकेत कवयित्री का है, यद्यपि उन स्थलों पर प्रभात के वर्णन भी अपने में पूर्ण हैं:—

(अ) चुभते ही तेरा अरुण बान—
इन कनक रश्मियों में अथाह
लेता हिलोर तम सिंधु जाग;
बनती प्रवाल का मृदुल कूल
जो क्षितिज रेख थी कुहर-म्लान

(आ) सजल है कितना सवेरा!
राख से अङ्गार तारे झर चले हैं,
धूम बन्दी रंग के निर्झर खुले हैं,
खोलता है पंख रूपों में अँधेरा!
कल्पना निज देखकर साकार होते,
और उसमें प्राण का संचार होते,
तूलिका रख सोगया दीपक-चितेरा!

समासोक्ति से भी अधिक महादेवी जी ने रूपकों को अपनाया है। रूपक में उपमेय और उपमान की एकरूपता प्रतिष्ठित की जाती है जिसमें आकृति, स्वभाव अथवा कार्य का अभेद रहता है। निम्नांकित सांग रूपक में कितना

परिचित, कितना मार्मिक व्यापार किस सहज विदग्धता से अङ्कित हुआ है ! मानस से बादल उठें और कहीं टकराकर बरस जाएँ, मोती बनने के लिए इतना ही तो यथेष्ट नहीं है ! इसी आधार पर 'सुधि स्वाती की छाँह' दोनों दिशाओं में कैसा गहन व्यापार छिपाए हुए है !

तरल मोती से नयन भरे !
मानस से ले उठे स्नेह-घन,
कसक विद्यु, पुलकों के हिमकण,
सुधि स्वाती की छाँह पलक की सीपी में उतरे !

—दीपशिखा

सन्ध्याकालीन एक और रम्य सांग रूपक का निरीक्षण कीजिए जिसमें प्रकृति की वस्तुओं से ही उपमेय और उपमान दोनों चुन लिए गए हैं। कैसे दिव्य शांत सौन्दर्य की अजस्र माधुर्य-धारा यहाँ बह रही है—

गोधूली अब दीप जला ले !
किरण-नाल पर घन के शतदल,
कलरव-लहर विहग-बुद्बुद् चल,
क्षितिज-सिन्धु को चली चपल
आभा-सरि अपना उर उमगा ले !

—दीपशिखा

अर्थालङ्कारों में उपमा ऐसा अलङ्कार है जिससे कोई अछूता नहीं बच सकता। हाँ, उसकी उपयुक्तता और सरसता के आधार पर ही एक कवि की भाव-भरी कल्पना का अन्तर दूसरे से आँका जा सकता है। रूप, गुण अथवा कर्म की समानता के लिए जो उपमान लाए जाएँ वे अपने को सार्थक करें, यही उपमा में विशेष रूप से देखा जाता है। महादेवी जी की उपमाओं से बाह्य विधियों (वर्णसाम्य, गुणसाम्य, कर्मसाम्य) की पूर्ति तो होती ही है, साथ ही कहीं सुरुचि, कहीं भव्यता, कहीं पीड़ा, कहीं आर्द्रता, कहीं उपरामता—जिन्हें व्यंजित करना उनका लक्ष्य रहता है—शब्दों से स्वतः टपकती है :—

(१) अवनि अम्बर की रुपहली सीप में
तरल मोती-सा जलधि जब काँपता

—रश्मि

(२) बिखर जाती जुगनुओं की पांति भी;
जब सुनहले आँसुओं के हार-सी।

—रश्मि

(३) कनक से दिन, मोती-सी रात

—रश्मि

(४) बिखरती उर की तरी में
आज तो हर साँस बनती शतशिला के भार सी है

—दीपशिखा

(५) रात-सी नीरव व्यथा, तम-सी अगम मेरी कहानी

—दीपशिखा

(६) तड़ित उपहार तेरा—
बादलों-सा प्यार है मेरा

—दीपशिखा

(७) वह सुनहला हास तेरा
अंक भर घनसार-सा
उड़ जायगा अस्तित्व मेरा।

—सांध्यगीत

(८) तज उनका गिरि-सा गुरु अन्तर
मैं सिकता कण-सी आई झर

—नीरजा

(९) पीड़ा मेरे मानस से
भीगे पट-सी लिपटी है।

—नीहार

नीचे की पंक्तियों में 'उपमा', 'क्रम' और 'अपन्हुति' तीनों अलङ्कार एक साथ आए हैं—

एक प्रिय दृग-श्यामता-सा,
दूसरा स्मित की विभा-सा
यह नहीं निश दिन इन्हें
प्रिय का मधुर उपहार रे कह !

'नीरजा' की 'जागो बेसुध रात नहीं यह' गीत का आधार ही 'अपन्हुति' है। महादेवी जी की रचनाओं में 'उल्लेख' के भी बहुत स्पष्ट उदाहरण पाए जाते हैं। रश्मि की 'तुम हो विधु के बिंब और मैं....' रचना देखने योग्य है। फिर भी एक छोटा-सा उदाहरण लीजिए :—

चित्रित तू मैं हूँ रेखा-क्रम
मधुर राग तू मैं स्वर-संगम,
तू असीम मैं सीमा का भ्रम ?

शब्दालङ्कारों की ओर अपनी रुचि महादेवी जी ने नहीं दिखलाई। शब्द-श्लेष शायद ही कहीं मिले। अनुप्रास जहाँ अपने आप आगया है, आ जाने दिया है। नीरजा में एक स्थान पर यमक आ गया है—अनायास !

जगती जगती की मूक प्यास !

महादेवीजी के चित्र भी उनकी कला का एक अंग हैं। जिस प्रकार के चित्र दीपशिखा में रक्षित हैं उसी ढंग का एक चित्र यामा के बिल्कुल प्रारम्भ में दिया हुआ है, जिससे यह आभास मिलता है कि दीपशिखा के प्रस्तुत प्रकाशन की रूप-रेखा यामा के प्रकाशन-काल में ही उनके मस्तिष्क में अङ्कित हो गई थी। यामा के चित्र बाह्य प्रकृति से सम्बन्ध रखते हैं और दीपशिखा के आंतरिक हलचल से। यामा के चित्रों से जैसे भव्यता, सभ्यता, शान्ति अथवा सुषमा बरसती है; उसी प्रकार दीपशिखा के चित्रों से प्रतीक्षा, उत्सुकता, अवसाद और आकुलता। इन चित्रों में—विशेषकर उनके केश-विन्यास और आकृति अङ्कन में—वे कहाँ तक मौलिक हैं और कहाँ तक उन्होंने प्राचीन तथा अर्वाचीन भारतीय अथवा विदेशी शैलियों का अनुकरण अथवा सम्मि-

अण किया है, इस प्रकार की विशिष्ट बातें उनकी चित्रकला का कोई मार्मिक अधिकारी विवेचक ही बता सकता है। पर उनके काव्य की सहयोगी-कला के विचार से ये चित्र अपनी सृष्टि में पूर्ण सफल रहे हैं। इनका वर्ण-विधान अत्यन्त उपयुक्त और अङ्गविन्यास आलेखन—विशेष-रूप से नेत्रों की भाव-स्थितियाँ, कर की मुद्राएँ और पद संचालन—इतना व्यंजक है कि यदि ये चित्र स्वतन्त्र रूप से भी भावुकों के सामने आते तब भी उनकी दृष्टि को बहुत देर तक आकर्षित करते।

जैसे काव्य में आंतरिक सौंदर्य की उसी प्रकार चित्रों में नारी की अङ्ग-माधुरी की एक विलक्षण सृष्टि महादेवी ने की है। पर इनकी सबसे बड़ी विशेषता उन भावों का सफल निदर्शन है जो उन विविध गीतों में बन्दी हैं, जिनकी वाह्य प्रतिकृतियाँ ये चित्र हैं।

चित्रों में रमणी मूर्तियों के साथ दीपक, शतदल अथवा काँटे आप प्रायः पाएँगे। ये तीनों क्रमशः आत्मा, भावना और पीड़ा के प्रतीक हैं। अपने गीतों में ही महादेवी जी ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है—

(१) दीप मेरे जल अकंपित,
घुल अचंचल ! —गीत १

(२) ले मिलेगा उर अचंचल,
वेदना-जल स्वप्न शतदल। —गीत २

(३) फिर तुमने क्यों शूल बिछाए ? —गीत २६

इस प्रकार हम देखते हैं कि महादेवी जी के यहाँ एक ओर चित्र कला की गोद में काव्य-कला खेलती है और दूसरी ओर काव्य-कला की अमूर्त्तता रेखा और रंग के सहारे चित्रित (मूर्त्त) हो गई है। इन चित्रों को देखकर लगता है कि वृत्तियों की मूर्त्तियाँ यदि कहीं हुआ करतीं तो ठीक ऐसी ही होती। फिर भी मेरी यह धारणा है कि काव्य-वधू का अंग अलंकृत कर ये चित्र अपनी स्वतंत्र सत्ता के साथ ही महत्त्व-विशेष खो बैठे हैं। यदि ये चित्र कला पारखियों के सामने स्वतंत्र रूप से आये होते तो महादेवी जी की

ख्याति चित्रकार के रूप में भी उतनी ही हुई होती जितनी आज कवि के रूप में उन्हें मिली है। पर उनके काव्य के आलोक में उनके चित्रों की आभा मन्द पड़ गई। श्रेष्ठ कवि के रूप में लोग उन्हें जितना जानते हैं, उत्कृष्ट चित्रकार के रूप में उतना नहीं जानते। उधर जैसे ध्यान ही नहीं जाता।

कबीर

कबीर हिन्दी के प्रथम महान् रहस्यवादी कवि हैं। वे ही हिन्दी काव्य क्षेत्र में प्रथम व्यापक-दृष्टि सम्पन्न महात्मा हुए जिन्होंने सर्व-व्यापक ब्रह्म को मस्जिद अथवा मन्दिर के संकीर्ण कठघरे से मुक्त किया। महादेवी इन्हीं की परम्परा में हैं। कबीर ने स्थूल पूजा का निषेध किया है। निषेध तो मूर्ति-पूजा का महादेवी जी ने भी किया है; परन्तु इस सम्बन्ध में उनकी दृष्टि अधिक उदार है। महादेवी की प्रवृत्ति केवल निषेधात्मक है। अपने तन को ही उन्होंने पूजा सामग्री कल्पित किया है। कबीर की प्रवृत्ति उग्र और खंड-नात्मक है। कबीर ने 'घट' में सब कुछ देखने पर बहुत जोर दिया है और आत्मा-परमात्मा के मिलन में माया को प्रबल बाधक माना है। साधना-मार्ग में गुरु की महत्ता को उन्होंने सशक्त शब्दों में व्यक्त किया है और ब्रह्म के आलोक दर्शन के लिए हठयोग को चुना है। हठयोग की क्रियाओं के वर्णन सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। उनकी दृष्टि से साधना के सोपानों को क्रमशः पार करके लक्ष्य की प्राप्ति होती है और पूर्ण सिद्धि पर साधना व्यर्थ हो जाती है। इस बीच अनुभूति पथ में पड़ने वाले अलौकिक लोकों के विस्तृत विलक्षण वर्णन उन्होंने किये हैं। महादेवी जी इस बखेड़े में नहीं पड़ीं। कबीर की भाँति आध्यात्मिक ज्ञान को वे भी चरम लक्ष्य मानती हैं। अद्वैतवाद पर उनकी भी आस्था है। पर उनका मार्ग भावुकता का है। साधनाओं की जटिलता उन्होंने स्वीकार नहीं की। प्रियतम-प्राप्ति में दुःख की महत्ता उन्होंने अवश्य उद्घोषित की है। कबीर का रहस्यवाद योग और भक्ति का सम्मिश्रण है और महादेवी का रहस्यवाद प्रेम और विवेक का। कबीर ने ब्रह्म को प्रियतम के रूप में देखा है और महादेवी ने भी। कबीर के काव्य पर अन्यत्र उपदेष्टा का रंग गहरा है। वे शरीर और मन की शुद्धि पर बार-बार ज़ोर देते हैं,

'कथनी' और 'करनी' में अन्तर बताते हैं, पाखंडी धार्मिकों, कपड़े रँगनेवालों और मूड़ मुड़ानेवालों आदि की घोर निन्दा करते हैं जिससे उनकी भाषा तिलमिलानेवाली बन जाती है। पर यह व्यक्ति जहाँ प्रिया-प्रियतम सम्बन्ध पर कुछ कहने बैठता है, वहाँ एकदम नम्र हो जाता है, एकदम शिरीष सुमन-सा-सुकुमार, नवनीत-सा कोमल। मन के साथ उसका सारा शरीर ही जैसे भावुकता के रस में पिघल कर ढल जाता है। तब उसका अहं और उग्र-भाव न जाने कहाँ विलीन हो जाते हैं। उसकी गिरा बहुत कुछ प्रसाद-गुण-मयी हो जाती है। उसका एक-एक शब्द अनुभूति का विश्वास उत्पन्न कराता है। संसार के प्रति उदासीनता कबीर ने महादेवी जी से अधिक विरक्तिजन्य शब्दों में प्रकट की है। कबीर जैसे-जैसे साधना के क्षेत्र में ऊँचे उठते गए हैं, वैसे ही वैसे इस माया के प्रपञ्च से मुक्त होते गए हैं। महादेवी जी को जगत पहिले तो दुःखमय प्रतीत होता है; पर फिर उसमें प्रियतम की झलक पाने पर अपनी विरक्ति-भावना को हटाती हुई वे स्नेह की दृष्टि से इसे देखने लगी हैं। काव्य के बाह्यांग कबीर की भाषा में विकल हैं। साहित्यिक ज्ञान उनका अधूरा था, इस बात को स्वीकार करने में हमें संकोच नहीं करना चाहिये। इस स्वीकृति से उनकी महत्ता में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। 'वे वाणी के डिक्टेटर थे' इस प्रकार के फ़तवे उनका गौरव नहीं बढ़ाते। कबीर की भाषा में न वह भाषा-सौष्ठव है जो महादेवी जी की वाणी में है और न उनके पदों में संगीत की वे अजस्र कोमल ध्वनियाँ हैं जो महादेवी जी के गीतों की स्वर-विभूतियाँ हैं। विदुषी होने और व्यंजनात्मक शैली में बात करने के कारण वे कहीं कहीं—वह भी बहुत कम—दुरूह हैं, पर वैसी अस्पष्ट नहीं जैसे कबीर अपनी उलटवासियों में।

जायसी

महादेवी और जायसी प्रेमपथ के दो बड़े पथिक हैं महादेवी जी ने ब्रह्म की कल्पना पति-रूप में की है, जायसी ने पत्नीरूप में। पद्मावत में जहाँ तक नागमती के विरह का सम्बन्ध है वहाँ तक तो प्रेमिका संसारी हैं, पर सूफ़ी भावना के अनुसार रत्नसेन की विह्वलता को साधक की विह्वलता का स्वरूप

मिल गया है जिसमें ईश्वर की कल्पना पद्मिनी के रूप में पत्नीभाव से हुई है। महादेवी के प्रणय-निवेदन का माध्यम गीति-काव्य है और जायसी का प्रबन्ध-काव्य। इसी से महादेवी ने अपने हृदय की बात सीधी उनके चरणों तक पहुँचाई है; पर जायसी के हृदय का जो प्रेम है वह दूसरे पात्रों द्वारा व्यक्त हुआ है। पर जायसी के प्रेम की व्यंजना में स्थूलता अधिक फूट पड़ी है यह स्वीकार करना पड़ेगा। महादेवी जी ने अपने अन्तर को इस प्रकार हमारे सामने रखा है कि. पहिले तो शरीर-भावना उसमें आती नहीं, आती है तो अत्यन्त मर्यादित और शिष्ट रूप में। महादेवी जी के काव्य में विह्वलता के दर्शन तो होते हैं, परन्तु किसी स्थूल कहानी का आधार न मिलने से उनके कर्म में प्रयत्न का एक दम अभाव है। जायसी में प्रेम-पात्री के प्राप्त करने के लिये विकट प्रयत्न करना पड़ता है जिससे उनके काव्य में एक निराला रस आगया है। साधक राजा हीरामन तोते की सहायता से जो गुरू का स्थानापन्न है सात समुद्र, शूली, पार्वती और लक्ष्मी के प्रलोभन, तथा अलाउद्दीन की दुष्टता आदि के विघ्नों पर अपने साहस, अपने प्रेम, अपनी दृढ़ निस्पृहता और अपनी शक्ति से विजयी होता हुआ पद्मावती के साथ परलोक में चिर-संयोग-वान होता है। महादेवी जी ने परलोक को महत्ता नहीं प्रदान की और इस संसार को अन्त में वे अनुराग की दृष्टि से देखने लगी हैं। पर प्रतिबिंबवाद के आधार पर संसार के बिखरे सौन्दर्य में भगवान की अनन्त सुषमा की छाया देखते हुए भी जायसी की दृष्टि बराबर कैलास या ब्रह्मलोक पर जमी हुई है। वहाँ के अमित सुख और शीतलता का वर्णन उन्होंने बड़े मनोयोग से किया है। मृत्यु को भी महादेवी जी ने अनुराग की दृष्टि से देखा है। उसके चारों ओर कोई भयङ्करता कम से कम उन्हें कभी प्रतीत नहीं हुई। पर जायसी के सम्बन्ध में ऐसा प्रतीत होता है जैसे मृत्यु की छाया उनके मस्तिष्क को सदैव आच्छादित किये रहती थी। स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक भावों में परलोकगमन की चर्चा उन्होंने आवश्यकता से अधिक की है, यहाँ तक कि पद्मावती के विवाह के समय भी इस धारणा की छाया से वे मुक्त न हो सके—गवनब तहाँ बहुरि नहिं अवना। जीवन के सब से बड़े सुख के पल में

जीवन की सब से भयङ्कर स्थिति की कल्पना, और वह भी एक सुन्दरी बालिका के आशा-भरे कोमल मन में !

जायसी के रहस्यवाद पर नाथ-पंथियों, रसायनियों की क्रियाओं और हठ-योग की प्रक्रियाओं का प्रभाव भी स्पष्ट दिखलाई पड़ता है, जिससे उनका काव्य कहीं-कहीं रूखा प्रतीत होता है। पर महादेवी जी के गीत किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिकता और पारिभाषिकता से एकदम मुक्त हैं। इतना अवश्य है कि अनन्त प्रकृति में जिस करुण विरह के दर्शन जायसी ने किये हैं उस मात्रा में महादेवी जी की प्रकृति व्यथाकुल नहीं है। वहाँ कवयित्री का आत्म-निवेदन ही प्रमुख है। प्रकृति एक प्रकार से उद्दीपन का काम करती या फिर हर्ष-पुलकित दिखाई देती है; पर जायसी में प्रकृति प्रेम-भाव से विरह में बिल-खती और ब्रह्म लोक की उच्चता और विभु की महानता का ध्यान करके नत और विवश प्रतीत होती है।

जायसी का हृदय जितना गीला प्रतीत होता है, उतना महादेवी जी का नहीं। पद्मावत को समाप्त करने पर उनकी इस घोषणा के विरुद्ध एक भी शब्द कहने का साहस नहीं होता कि उन्होंने अपनी कथा को 'रकत (रक्त) की लेईं' से जोड़ा था। प्रेमानुभव की उतनी सुन्दर अभिव्यक्तियाँ महादेवी जी के काव्य में निश्चय ही नहीं हैं, जितनी जायसी में। पद्मावत की पंक्तियों में एक प्रकार की गहरी उदासीनता भरी रहने पर भी प्रेम का एक अगाध अपार दुस्तर समुद्र लहरा रहा है जिससे मलिक मुहम्मद का उर अत्यन्त दर्द भरा और कसक से परिप्लावित प्रतीत होता है। महादेवी जी की जायसी पर जो विजय है वह सूक्ष्मता की स्थूलता पर। कबीर पर विजय की भाँति वह छन्द, अलङ्कार, भाषा की विजय नहीं। जायसी तो प्रेम का ही पुजारी था, पीर का मर्मी। पर ज्ञान के जिस सूक्ष्म-स्तर में विचरण कर प्रेम के इन्द्र-धनुष को महादेवी जी ने चित्रित किया है वहाँ निरन्तर निवास तो दूर, आस्था रखने की शक्ति भी कम प्राणियों में होती है।

मीरा

एक दृष्टि से मीरा को महादेवी जी की समकक्षता में रखना अधिक सङ्गत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि मीरा भक्त हैं और महादेवी रहस्यवादिनी। फिर भी कुछ ऐसा है कि जब कभी महादेवी जी का नाम जिह्वा पर आता है, तब-तब मीरा का स्मरण स्वतः हो आता है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि स्त्री कवियों में आज तक जो ख्याति मीरा को मिली वह किसी को नहीं; अतः महादेवी जी ने इस युग में जब उनसे बड़ी ख्याति की स्थापना की, तब यह स्वाभाविक लगा कि मीरा और महादेवी जी को एक दूसरे के सामने खड़ा करके देखा जाय। मीरा में रहस्यवादियों के कुछ संस्कार अवश्य पाये जाते हैं। पर उनकी कविता में त्रिकुटी, अनहदनाद, सुरत-निरत, ज्ञान दीपक, सुषुम्ना की सेज, सुन्नमहल, हंस और अगम देश की चर्चा होने पर भी रहस्य-भावना गौण ही नहीं उपेक्षणीय है; क्योंकि ऐसे पदों के अन्त में ही जिनमें इन शब्दों का प्रयोग हुआ है 'मीरा के प्रभु गिरधर नागर' लिखा हुआ मिलता है, जिससे सिद्ध होता है कि उनके भावों का प्रेरक कोई निर्गुण नहीं वरन् ब्रज का वह छलिया था जिसका काम ही था मन को चुराना!

मीरा की जीवन-गाथा इतनी व्यथासिक्त और उनकी प्रेम भावना ऐसी सहज और मर्मस्पर्शिणी है कि उनके सम्पर्क में आने वाले की पत्थर की भी आँखें होंगी तब भी भर आएँगी। प्रत्येक भारतीय के प्राणों के आकाश के एक-एक विद्युत्कण में उनकी आत्मा आज मँडरा रही है। एक राजकुमारी जिसके चरणों में वैभव बिखरा पड़ा हो यदि यह कह उठे कि "मेरो दरद न जाने कोय" तब उसकी पीड़ा की थाह काव्य के सिद्धान्तों से लेना अन्याय करना होगा। मीरा के पदों से इतना तो सभी को स्पष्ट है कि उन्होंने 'प्रीति-बेलि' को 'आँसुओं के जल' से सींचा था। आँसू महादेवी ने भी कम नहीं बहाये हैं। समानता के लिए ये दोनों ही माधुर्य-भाव की उपासिका हैं। दोनों ही के पद गेय हैं। मीरा जो अनुभव करती थीं वह कह डालती थीं; अतः नारी के हृदय में कितनी आर्द्रता और तड़पन होती है यह बात उनके पदों से पूर्ण रूप से झलक जाती है। परन्तु ऐसा लगता है कि किसी कारण से महादेवी

जी के हृदय में अभी बहुत-कुछ अवरुद्ध है। वह बात अभी उनके हृदय में ही है जो दूसरों को रुलाती है। वैसे विचारों और कल्पनाओं की जो निधि महा-देवी जी की रचनाओं में रक्षित है, उसे मीरा में ढूँढ़ना व्यर्थ होगा।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

रवीन्द्रनाथ स्वभाव से सौन्दर्य के द्रष्टा, स्रष्टा और स्वरकार हैं। सौंदर्य ने उन्हें इतना अभिभूत किया है कि वे उसके उपासक प्रतीत होते हैं। उनके अन्तर की दूसरी गौण वृत्ति है अध्यात्म। सृष्टि की अनन्त सुषमा के सम्पर्क में आ उनकी दृष्टि तृप्त हुई, उनका मन परिप्लावित और उपनिषदों के मनन तथा सन्त साहित्य के श्रवण (आचार्य क्षितिमोहनसेन के सम्पर्क) से उनकी बुद्धि सन्तुष्ट हुई, आत्मा परितृप्त। अतः एक ओर सोनारतरी की 'निद्रिता' और 'मानस सुन्दरी', चित्रा की 'उर्वशी' तथा 'रात्रे ओ प्रभाते', क्षणिका की 'अविनय' और 'चिरायमाना' शृङ्गारी रचनाएँ हैं; दूसरी ओर 'परश-पाथर' (सोनारतरी) 'आवर्त्तन' (उत्सर्ग) 'आत्म-त्राण' (गीतांजलि) और 'चंचला' (बलाका) आदि सूक्ष्मभावापन्न कविताएँ। अध्यात्म-भावना वैसे उनके अनेक काव्य-ग्रन्थों में बिखरी मिलती है, पर उसकी सजल और प्रचुर अभिव्यक्ति हुई गीतांजलि में ही। भगवान के प्रति टैगोर की दृष्टि महादेवी जी से सर्वथा भिन्न है, इसी से भाव-धारा भी भिन्न गति से बही है। भगवान् के साथ जितने भी सम्बन्ध सम्भव हैं उतने रवि बाबू ने स्थापित कर लिये हैं। कहीं उन्हें माता, कहीं पिता, कहीं देवता, कहीं प्रभु, कहीं सखा, कहीं सम्राट् और कहीं प्रियतम माना है। महादेवी जी का सम्बन्ध तो एक प्रेमिका का निश्चित् सम्बन्ध है। रवि के भगवान विशेष रूप से स्वामी के रूप में आते हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में विनम्रता अत्यधिक है। यह विनम्रता दीनता की दशा तक झुक गई है। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में लघु और महान् के अन्तर को टैगोर भूलते नहीं हैं। इसी से ईश्वर के छोटे से छोटे अनुग्रह को उनकी आत्मा अगाध कृतज्ञता और अनन्त आह्लाद से ग्रहण

करती दिखाई देती है। इसके विपरीत महादेवी में मान-भावना प्रबल है और वे समभूमि पर ही उनसे मिलना पसन्द करती हैं।

सृष्टि को जिस प्रगाढ़ मोह से टैगोर ने देखा है उस ममता से महादेवी जी ने नहीं। वे 'रूपसागर' में से ही 'अरूप रत्न' को निकालने का प्रयत्न करते रहे। टैगोर ने अपने भगवान की कल्पना एक कर्मयोगी के रूप में की है, इसी से एकान्तवासी साधकों को वापिस आने की सलाह उन्होंने दी और स्वयं सृष्टि के साथ एकाकार होने की इच्छा प्रकट की। इच्छाओं की अपूर्ति से घबराकर विरक्त होने की आवश्यकता वे नहीं समझते। उनका मत है कि अपनी ओर आकर्षित करने के लिए यह भी भगवान का एक कठोर अनुग्रह है। सृष्टि की छोटी से छोटी वस्तु उसी का प्रतिरूप है—वह न जाने किस वेश में मिल जाय—अतः कुछ भी हेय नहीं। आडंबर-रंजित उपासना से वह आकृष्ट नहीं होता, स्नेह होने से हृदय में स्वतः उपस्थित हो जाता है।

मृत्यु को रवि बाबू भी अनुराग की दृष्टि से देखते हैं। वह तो प्रियतम की दूती है। मुक्ति तो न टैगोर चाहते हैं और न महादेवी। कवयित्री की भाँति जन्मान्तर में उनका भी दृढ़ विश्वास है। उनकी आत्मा भी जन्म-जन्म से उन्हें प्रेम कर रही है।

"मुझे ऐसा लगता है कि अपने अस्तित्व के उषाकाल से ही मैं तुम्हारे सौन्दर्य को निहार रहा हूँ और अनन्त युगों से यद्यपि मैंने तुम्हें अपने आलिंगन में अनुभव किया है, तथापि मन तो भरा नहीं।"

यह भावना टैगोर की वृत्ति को संसार और अध्यात्म दोनों के क्षेत्र में पूर्णतः स्पष्ट करती है।

माया की शक्ति को टैगोर ने स्वीकार किया है। माया के आवरण में आत्मा नित्य उलझती जा रही है और इस प्रकार उनसे दूर हो रही है। फिर भी कोई शक्ति जीवन में चुप-चुप हमारा अनुसरण करती हुई हमें सचेत करती रहती है। सत् असत् के विवेक, कुभावनाओं से मुक्ति और सद्गुणों के ग्रहण में ही हमारा मंगल है ऐसा हमारी वृत्तियों का संचालक कहता है। महादेवी

जो इस मायावाद के चक्कर में नहीं पड़ीं। असत् वृत्तियों में 'अहंकार' को रवि बाबू ने मिलन में प्रबल बाधक माना है।

गीतांजलि से बाहर कहीं-कहीं छोटी-छोटी कथाओं की कल्पना करके टैगोर ने अपने आध्यात्मिक भावों की अभिव्यक्ति सफलता से की है। महादेवी जी ने इस शैली का प्रयोग नहीं किया। प्रतीकों का उपयोग दोनों ने खुलकर किया है। टैगोर ने प्रभात, आकाश, विहग, सुमन, रजनी, मलयानिल, लहर, मधुमास, झंझा, वीणा आदि तो इस काम के लिए लिए ही हैं, पर सबसे अधिक उन्हें सरिता और नौका के प्रतीक प्रिय हैं।

वृत्ति टैगोर की भी राजस् है ही। साधक की स्थिति में अत्यन्त विनम्र रहने पर भी भावों की उड़ान का आकाश राजसी है—पुष्पाकीर्ण पथ, सुवासित जल, स्वर्ण वीणा, स्वर्ण रथ, स्वर्ण नूपुरों की झंकार, सम्राट् का आगमन आदि।

भावों की विभूति महादेवी और टैगोर दोनों में ही प्रचुर मात्रा में है। संगीतात्मक तत्व के लिए रवि बाबू की बहुत प्रशंसा की जाती है। देखा जाय तो उनकी बँगला गीतांजलि से 'दीपशिखा' का संगीत किसी प्रकार कम नहीं है—न वर्णों की कोमलता में और न लय की नूतनता और विविधता में। भाषा रवीन्द्रनाथ के गीतों की अत्यन्त स्वाभाविक, सहज-बोध, आडम्बर-हीन साहित्यिक और स्निग्ध है; महादेवी की प्रौढ़, परिमार्जित और मधुर, पर प्रसाद-गुण उनमें सर्वत्र नहीं।

टैगोर की गीतांजलि विविध वर्ण के पुष्पों की एक अंजलीभेंट है। उन डेढ़ सौ गीतों में भावों का कोई तारतम्य नहीं। महादेवी जी की रचनाओं में यह तारतम्य बना हुआ है। उनके काव्य-ग्रन्थों को पढ़कर जिस प्रकार प्रेम के स्तरों पर हम चढ़ते चले जाते हैं, उस प्रकार टैगोर में नहीं। गीतांजलि के गीत विनम्रभक्त की उपासना के बिखरे पुष्प-मात्र हैं, पर महादेवी जी की रचनाएँ हैं एक प्रणयिनी के हृदय-सुमनों की माला। टैगोर की आत्मा परमात्मा की खोज में है यह तो सत्य है; परन्तु उसमें उस तीव्र आकुलता के

दर्शन नहीं होते जिसके महादेवी में। उनकी प्रतीक्षा में प्रसन्नता अधिक है, पीड़ा कम। टैगोर के पास जो पुष्प थे उनमें से कुछ देवता पर चढ़ गये और शेष उन्होंने औरों के लिए बचा लिए, पर महादेवी जी के पास जो कुछ है वह सब देवता के निमित्त है।

जयशंकर प्रसाद

'प्रसाद' की रहस्य सम्बन्धिनी रचनाएँ उनके काव्य-ग्रन्थों में उनकी प्रेम सम्बन्धी रचनाओं के साथ सङ्कलित या फिर घुली-मिली मिलती हैं। संख्या में ये बहुत कम हैं। उदाहरण के लिए 'लहर' की 'निज अलकों के अन्धकार में' या 'झरना' की 'तुम' 'दर्शन' और 'कुछ नहीं' आदि कविताएँ। 'प्रसाद' जी के सम्बन्ध में एक झंझट यह है कि उनके प्रेम का आलंबन तो लौकिक है; परन्तु उनकी पंक्तियों का अर्थ अधिकतर दोनों ओर खींचा जा सकता है; अतः उनके प्रशंसकों ने जहाँ उनमें रहस्यवाद नहीं है वहाँ भी उसे ढूँढ़ निकाला है। उनकी 'आँसू' पुस्तिका इस दिशा में सदैव विवाद का विषय बनी रहेगी। मेरा निश्चित मत है कि उसमें दर्शन, रूप-वर्णन, विरह और मिलन के जैसे वर्णन पाये जाते हैं उनके अन्तर में झाँकने से उनकी आत्मा संसारी ही हो सकती है। 'हिलते द्रुमदल कल किसलय देती गलबाँही डाली' के प्रारम्भ से लेकर आगे की कुछ पंक्तियों में संभोग तक की चर्चा व्यंजना में छिपा दी है; पर रहस्यवाद के प्रेमी कहेंगे यह सब कुछ ईश्वर से सम्बन्धित है; क्योंकि 'आँसू' में एक स्थान पर 'महामिलन' शब्द आया है। हाँ, कामायनी में कहीं कहीं रहस्यभावना अत्यन्त स्पष्ट है जैसे 'आशा' सर्ग में प्रकृति के महान चिन्हों—नक्षत्र, सोम, सविता, वरुण, मरुत, पूषा—को परिचालित करने वाली अदृश्य महाशक्ति के सम्बन्ध में मनु की जिज्ञासा-भरी उक्तियाँ।

सब मिलाकर अभी तक अर्वाचीन हिन्दी कवियों में 'प्रसाद' सर्वश्रेष्ठ और महादेवी जी से भी उच्च स्थान के अधिकारी हैं और यह अधिकार उनका उस समय तक सुरक्षित है जिस समय तक कोई कवि कामायनी जैसे उत्कृष्ट महाकाव्य का सृजन नहीं करता। पर रहस्यवाद के क्षेत्र में व्यवस्थित रूप से

महादेवी जी ने ही लिखा है; अतः आज के किसी कवि से उनकी कोई समता इस दिशा में नहीं। रहस्य की भाव-भूमि में 'प्रसाद' को भी महादेवी जी के बाद ही स्थान मिलेगा। 'प्रसाद' जी विशेष रूप से लौकिक प्रेम के कवि हैं। प्रेम में रूपासक्ति, सुकुमार सौंदर्य, लज्जा के व्यवधान, प्रेमिका की निष्ठुरता और उदासीनता, प्रेमी की पीड़ा और संयोग-सुख के जो वर्णन पाये जाते हैं वे इस बात की ओर यद्यपि स्पष्ट इंगित करते हैं कि उन्होंने वास्तव में कुछ देखा, भोगा और सहा था; तथापि उनकी रहस्य-भावना में वैसी गहराई और उड़ान नहीं है। कहीं जिज्ञासा और कहीं मुग्धता की दृष्टि उठाकर वे रह गए हैं। लौकिक और अलौकिक आलंबनों को एक ही हृदय से सँभालना कठिन पड़ता भी है। 'अरूप' की साधना में रूपासक्ति प्राण-पंखी के लिए गाढ़े रस का वह कुण्ड है जिसमें डूबकर पंखों की उड़ानशक्ति कुण्ठित और व्यर्थ हो जाती है।

सुमित्रानन्दन पंत

'पल्लव' में प्रकृति और प्रेम तथा 'गुञ्जन' में सौंदर्य और जीवन की विविध रचनाओं के बीच दो-चार ही रहस्यवाद से सम्बन्धित कविताएँ पाई जाती हैं—उदाहरण के लिए 'मौन-निमन्त्रण,' (पल्लव) और 'विहग विहग' (गुञ्जन)। पल्लव की कुछ अन्य रचनाएँ जैसे 'विनय', 'विसर्जन' और 'याचना' जो एक प्रकार से प्रार्थना-गीत हैं, वीणा-काल की कविताएँ हैं। 'वीणा'की बहुत सी रचनाएँ रहस्य-भावना से प्रसूत हैं।

कबीर के समान अपने आराध्य के प्रति पंत जी की भावना निर्दिष्ट नहीं है। वे उसे कहीं मा के रूप मे देखते हैं, कहीं प्रियतम के रूप में। 'वीणा' में ये दोनों भावनाएँ एक साथ पाई जाती हैं।

वीणा की रचनाओं में पन्त एक भोली बालिका के रूप में प्रायः आते हैं। अन्तर का यह भोलापन पंक्ति-पंक्ति से फूट पड़ा है। ऐसी सरसता ऐसी सरलता और भावों की ऐसी अकृत्रिम व्यंजना पन्त के काव्य में फिर देखने को नहीं मिली। पन्त के उर की यह सरला बालिका महादेवी के मन की शिक्षिता प्रेमिका से अलग पहचानी जा सकती है।

व्यापक दृष्टि से पन्त प्रकृति के कण-कण में मा की छवि का आभास पाते हैं। सुविधा के लिए सृष्टि को उन्होंने दो भागों में विभाजित कर लिया है—एक प्राणियों की दूसरी प्रकृति की। सांसारिक वैभव को तो वे मा के मिलन में बाधक मानते हैं; पर प्रकृति-वैभव को ज्ञान-पथ में साधक। अज्ञान के अन्धकार से मुक्ति पा ज्ञान के आलोक की ओर बढ़ने के लिए कवि निरन्तर उत्सुक है। पन्त की रहस्यानुभूति का माध्यम विशेष रूप से प्रकृति ही है। प्रकृति के अनेक रूपों में अपने को परिवर्तित करने में उन्हें बड़ा सुख मिलता है। कहीं वे ओस-कण बनकर मा के पाद-पद्म धोना चाहते हैं; कहीं तरंग बन उनके श्रवणों में कलरव भरना चाहते हैं, कहीं विहग-बालिका बन उसके गीतों से वन को गुञ्जरित करने का निश्चय करते हैं। इसी प्रकार कहीं अपने को चकोर और उसे राकापति, अपने को विहगरव और उसे सान्ध्य-लालिमा, अपने को भ्रमर और उसे सुमन तथा अपने को करील और उसे ऋतुराज समझते हैं। प्रकृति में उस मा की छवि की झलक पर एक प्रकार के कोमल स्पर्श-सुख का अनुभव करते हैं। उनकी दृष्टि से सरिता उनके लिए बहती, पपीहा पुकारता, भ्रमरी गान सँजोती और सौरभ वेणी की गंध लेकर वितरण करता फिरता है। उनके समस्त प्रतीक भी प्रकृति से ही सम्बन्ध रखते हैं जैसे विकार भरे मन के लिए बादल, ज्ञान के लिए अरुणोदय बेला, भगवान के लिए सूर्य आदि। महादेवी जी प्रकृति में इतनी तल्लीन नहीं हो पाईं। उनमें अपना व्यक्तित्व एकदम सजग है।

'गुंजन' 'स्वर्ण किरण' और 'युगांतर' में जिज्ञासा वृत्ति को व्यक्त करने वाली कई रचनाएँ हैं जिनमें पंत जी ने सृष्टि के रहस्यमय स्वरूप की चर्चा की है। 'पल्लव' की 'मौन निमंत्रण' रचना में तो अपने और उस अलक्ष्य प्रियतम के बीच उन्होंने बड़ा भावपूर्ण संबंध स्थापित कर लिया है। रहस्य के और भी संकेत जहाँ कहीं उनकी रचनाओं में पाए जाते हैं, वे बड़े रम्य, सूक्ष्म, कोमल और व्यंजक हैं।

'स्वर्ण-किरण' से लेकर 'अतिमा' तक का उनका काव्य अरविंद दर्शन से अत्यधिक प्रभावित है। यह अरविंदवाद काव्य में नवचेतनावाद कहलाता है।

नवचेतनावाद के अनुसार मा (परा शक्ति) की दिव्य करुणा का अवतरण जब अंतःकरण में होता है, तब व्यक्ति की चेतना सूक्ष्म से सूक्ष्मतर सोपानों पर आरोहण करने लगती है। अंतःकरण का रूपान्तर होता है, वह दिव्य आलोक से जगमगा उठता है और साधक एक दिन दिव्य आनंद का अनुभव करता है। इस साधना का अधिकारी कोई भी व्यक्ति हो सकता है। केवल उसे सच्चे हृदय से मा (भागवती शक्ति) को आत्म समर्पण करना है। ऐसे अतिमानस (Supermind) वाले अतिमानव (Super man) ही पृथ्वी से दुःख, क्लेश, विग्रह और अशांति को मिटाकर उस पर स्वर्ग की स्थापना करेंगे। स्पष्ट है कि पंत जी अब और भी अंतर्मुखी होकर एक काल्पनिक आदर्श सृष्टि में डूबते चले जा रहे हैं। प्रतीकवादी शैली को अपनाने के कारण उनकी रचनाएँ पहले से अधिक दुरूह होती चली जा रही है और काव्य की मार्मिकता का स्थान दर्शन ले बैठा है।

इस प्रकार महादेवी जी का पथ जहाँ अटूट विश्वास-जन्य दिव्य-प्रणय की अनन्यता का है, वहाँ पंत जी का जीवन अनेक प्रकार के प्रयोग करते ही बीता है। महादेवी जी के गंतव्य के संबंध मे कोई भ्रम नहीं; पर पंत जी की खोज का अंत क्या होगा, कोई नहीं जानता।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

'निराला' जी रहस्यवादी उतने नहीं हैं जितने वेदान्तवादी अर्थात् रहस्य वादी के लिए प्रेम की जिस गहरी आर्द्रता की आवश्यकता होती है वह उनके पास नहीं; आत्म-निवेदन के लिए जिस तल्लीनता की अपेक्षा होती है उसका उनके यहाँ अभाव है; आत्मा जिस सुस्पष्ट सम्बन्ध को निश्चित कर दृढ़-भाव से परमतत्व की ओर अग्रसर होती है वह उनकी रचनाओं में नहीं पाया जाता। ईश्वर को कहीं प्रिय, कहीं प्रिया और कहीं माता के रूप में उन्होंने देखा है 'वीणा' के पन्त ने जिस प्रकार उस परोक्षशक्ति को मा के रूप में या महादेवी ने अपनी रचनाओं में प्रियतम के रूप में देख भावों के मकरन्द-भरे सुमन उनके चरणों पर चढ़ाये हैं वैसी वृत्ति निराला जी की नहीं प्रतीत होती। जिस प्रकार वे प्रेम-प्रसंग उठाते, प्राकृतिक चित्रों का अंकन करते, दीन-दलित-

शोषित की दुःख गाथा गाते, सामाजिक कुरीतियों और अपनी भावना के अनुसार अयोग्य व्यक्तियों पर व्यंग्य कसते, उसी प्रकार वेदान्त शास्त्र के निजी अध्ययन के आधार पर तत्व-चिंतन भी करते दिखाई पड़ते हैं। उनमें सिद्धान्त-कथन अधिक है, प्रेम-मग्नता कम। इतना होते हुए भी रहस्यवाद के प्रवर्तकों में से वे हैं और इस काल के रहस्यवादियों के साथ उनका नाम गौरव के साथ लिया जायगा।

'परिमल' 'गीतिका' और 'अनामिका' के बहुत से गीत और रचनाएँ रहस्य-भावना के अन्तर्गत हैं। प्रतीकों में इन्होंने समीर, अन्धकार, रविरश्मि, सागर, जलयान, कण और हीरा आदि को लिया है। परिमल की 'कण' शीर्षक कविता में तो कवि सन्देह की स्थिति में ही है। चेतन-तत्व और विश्व में से कौन व्यापक है कौन व्याप्य ? निर्णय नहीं हो पाता। व्यापक-व्याप्य न होकर वे अभिन्न तो नहीं हैं ? यही सोचता कवि रह जाता है। गीतिका के गीतों में यह स्वर प्रबल है कि सारी सृष्टि मनुष्य की भावना से निर्मित है। उसे वह भेद कर पार जा सकता है। अपने बन्धन और मोक्ष के लिये स्वयं जीव ही उत्तरदायी है, अन्य कोई नहीं। पर वह अज्ञान के आवरण से आवृत है, अतः उस परमप्रकाश से ज्ञानलोक के दान की याचना करने से ही उद्धार सम्भव है। परिमल की 'तुम और मैं' रचना जिसे हिन्दी-जगत में बड़ी ख्याति मिली निराला जी की उस वृत्ति की परिचायिका है जहाँ वे आत्मा को परमात्मा के साथ एक अभिन्न शाश्वत सम्बन्ध में संलग्न देखते हैं। अपनी एक और विशिष्ट रचना 'वसन्त-समीर' में उन्होंने उस स्थिति की कल्पना भी की है जहाँ साधक यह कह उठता है : "केवल मैं, केवल मैं, केवल मैं, केवल मैं, केवल ज्ञान........।" इसके आगे कहने को कुछ रह ही नहीं जाता। पर इसी ग्रन्थ में उनकी 'अधिवास' शीर्षक रचना भी है जिससे 'अश्रुभरी आँखों' पर उन्होंने अध्यात्म-चिंतन और उसके फल को न्योछावर कर दिया है। तात्पर्य यह कि रहस्यभावना उनके प्राणों की टीस बनकर नहीं आई। नित्य के जीवन में अन्य वृत्तियों के साथ आध्यात्मिक चेतना का स्फुरण उनमें कभी-कभी होता है जिसे वे गीत में बाँध लेते हैं और यहीं, उन्हीं का क्या सभी आधुनिक

रहस्यवादियों का, जिनमें से कुछ का नाम मैंने ऊपर लिया और कुछ को छोड़ दिया है, महादेवी जी से विशेष विभेद है।

निराला जी का अभिव्यक्ति-पक्ष शुष्क और दुरूह है। लोक-पक्ष में अनामिका की 'तोड़ती पत्थर' 'सरोज-स्मृति' और 'दान' जैसी प्रकृति के क्षेत्र में परिमल की 'जुही की कली' और 'शेफालिका' जैसी मार्मिक रचनाएँ अध्यात्म के क्षेत्र में विरल ही हैं। स्पष्टता की दृष्टि से परिमल की 'तुम और मैं' तथा अनामिका की 'चुम्बन' जैसी रचनाएँ उन्होंने कम लिखी हैं। इस अस्पष्टता के कारण हैं। आध्यात्मिक वृतियों की व्याख्या के लिए जिस प्रतीक को लेकर वे विभिन्न अप्रस्तुतों का उस पर आरोप करते हैं वे अपने पक्ष में तो पूरा अर्थ देते हैं; पर दूसरे पक्ष में थोड़ी दूर तक सहारा देने के उपरान्त अदृश्य हो जाते हैं और पाठक-पथिक के बुद्धि-चरण अनिश्चित-कल्पना पगदंडियों पर भटकने के लिए अन्धकार में निर्दयता से छोड़ दिए जाते हैं। दूसरे, ध्वनि या व्यंजना का सहारा प्रसाद ने भी लिया है, महादेवी ने भी, पन्त ने भी। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आप अपनी ऊँची उड़ान में पाठक की बुद्धि के प्रवेश के लिए कोई रन्ध्र तक न छोड़ें। निराला जी प्रायः सब द्वार बन्द करके भीतर बैठ जाते हैं और पुकार मचने पर टिप्पणी या सरलार्थ देते फिरते हैं। तनिक सी असावधानी से प्रतिभा की विफलता का ऐसा उदाहरण हिन्दी साहित्य में ढूँढने पर कठिनाई से मिलेगा।

आधुनिक काल में रहस्यवाद के पथ पर जो दो चार पथिक अक्षय भावों का संबल लेकर चले थे उनमें से कोई लौकिक आकर्षण, कोई प्रचार और व्यक्तित्व-प्रदर्शन के पथ पर मुड़ गया। इनके अतिरिक्त जो आवेश में अनुसरण करने चले थे वे या तो थककर बैठ गए या समय की बाढ़ में बह गए।

आज तो केवल किसी के दो चरण ही गहन तम-प्रदेश को पार करते दृष्टिगोचर होते हैं। उसकी पुतलियाँ आँसुओं में डूबी हैं, पर उसके हृदय में अगाध आशा है, उसकी आत्मा में अडिग अटूट विश्वास और उसके हाथों में निष्कम्प अक्षय आलोक!

समाधान

महादेवी जी के काव्य पर समीक्षा-ग्रंथों की अभी बड़ी कमी है और जो दो-एक पाए भी जाते हैं, उनसे उनके काव्य को ठीक से समझने में कोई सहायता नहीं मिलती। फिर भी कुछ आलोचकों और प्रबुद्ध पाठकों ने समय-समय पर जो उन पर स्वतंत्र लेख लिखे हैं, उनसे बहुत-सी नई बातों पर प्रकाश पड़ता है। साहित्य के जिज्ञासुओं द्वारा जो कुछ लिखा गया है, उसमें एक प्रकार की विविधता, नूतनता और ताज़गी (Freshness) के दर्शन होते हैं। इस सारे समीक्षा-साहित्य में कुछ बातें ऐसी भी हैं जिनका स्पष्टीकरण बहुत आवश्यक है। सभी बातों का उत्तर देना न तो संभव है और न आवश्यक ही। विवेचकों की कुछ भूलें तो ऐसी होती हैं जिन्हें पाठक वहीं पकड़कर ठीक कर लेता है; पर समीक्षा के क्षेत्र में यदि किसी प्रतिष्ठित आलोचक या साहित्यकार के द्वारा कोई बात कही जाती है तो उससे भ्रम फैलने की पूरी आशंका रहती है। पाठकों में सभी प्रकार के व्यक्ति रहते हैं और उनमें कुछ ऐसे भी होते हैं जो प्रख्यात साहित्यिकों को आदर की दृष्टि से देखते हैं और उनके द्वारा जो कुछ कहा जाता है, उसे ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेते हैं। यहीं तक नहीं, उनके कथनों को वे बातचीत के बीच या अपने लेखों में उद्धृत करते फिरते हैं। ऐसी दशा में यह आवश्यक-सा हो जाता है कि इस बात की चिंता किए बिना कि साहित्य में किसका क्या स्थान है, मतभेद व्यक्त किया जाय।

आलोचकों में कुछ लोग ऐसे होते हैं जो कुछ बातों को कभी ठीक-से समझ ही नहीं पाते। ऐसी बातों की चर्चा वे बहुत गोल शब्दों में करते हैं। इस चर्चा से पाठकों को कोई लाभ नहीं होता। आलोचना काव्य की अंतर्निहित विशेषताओं, उनसे संबंधित जटिलताओं और अर्द्ध प्रच्छन्न सौंदर्य के उद्-घाटन के लिए लिखी जाती है। वह इसलिए नहीं लिखी जाती कि जहाँ पाठक आपको सहायता चाहता है आप वहीं उसे छोड़कर सरक जाँय। दूसरे,

कुछ ऐसे समीक्षक भी होते हैं जो पूर्वग्रह का परित्याग नहीं कर पाते। वे अपने पूर्व-निश्चित विचारों के आरोप के लिए ही किसी लेखक पर लिखने की कृपा करते हैं। पाठकों को यह लगता है कि वे कोई नई बात कह रहे हैं; पर इससे भी कवि विशेष के काव्य को समझने में कोई सहायता नहीं मिलती। वह एक प्रकार का भिन्न दृष्टिकोण मात्र होता है। यह दृष्टिकोण कभी-कभी बड़े विकृत ढंग का होता है और सामान्यतया काव्य और आलोचना दोनों की हानि करता है। एक अन्य प्रकार के आलोचक हैं जिनमें मौलिकता नाम मात्र को नहीं होती। स्वतंत्र चिंतन से जिनका कोई संबंध नहीं होता। बीस स्थानों से बातें एकत्र करके वे उन्हें इक्कीसवें स्थान पर सजा देते हैं और चाहते हैं कि उनकी बात को मान्यता प्राप्त हो। एक ही लेख में वे कभी-कभी बहुत-सी परस्पर-विरोधी बातें कहते हैं जिनसे पाठकों का मस्तिष्क सत्य के ठीक स्वरूप को ग्रहण नहीं कर पाता। महादेवी जी के काव्य की समीक्षा में यह सब कुछ किसी-न-किसी अंश मे पाया जाता है। नीचे हम कुछ आलोचकों और निबंध-लेखकों के विभिन्न लेखों में प्रतिपादित मंतव्यों की परीक्षा करेंगे।

प्रकाशचन्द्र गुप्त

अभिमत

कवयित्री के मन में एक हूक उठती है। वह गाने लगती है—इससे कुछ मतलब नहीं क्या ? इन गीतों में एक कहीं दूर की पुकार है, पवन का एक झोंका, लहरों की एक करवट, तारों का कुछ संदेश।....इस पुकार को छायावाद कहा गया है।

उत्तर

महादेवी जी के गीत उनके मन में उठने वाली हूक का परिणाम हैं, इतना स्वीकार करने के उपरांत आपका यह कहना कि—इससे कुछ मतलब नहीं क्या, कुछ समझ में नहीं आया। अपने प्रश्न का उत्तर तो आपने स्वयं ही दे दिया है अर्थात् ये गीत हृदय की वेदना को व्यक्त करते हैं। इस क्या

को और अधिक स्पष्ट करें तो कहना होगा कि महादेवी जी को ऐसा लगता रहा है कि उनकी आत्मा उस परम सुन्दर से विछुड़ कर संसार में पुनर्मिलन के लिए साधना कर रही है। समस्त जीवन विरह-काल है, इसी से उनके काव्य में व्यथा आ समायी है। इस प्रकार उनके काव्य के मुख्य विषय हैं आत्मा, परमात्मा और प्रकृति। आत्मा और परमात्मा के बीच चलने वाला प्रेम उनके काव्य में प्रकृति के माध्यम से व्यक्त हुआ है। इसी पुकार का नाम दूर की पुकार है। पर इसे छायावाद नहीं कहते। इसकी संज्ञा रहस्यवाद है।

छायावाद और रहस्यवाद में बहुत अंतर है। छायावाद का संबध केवल प्रकृति से है और रहस्यवाद का ब्रह्म के प्रति प्रेम से। इस शताब्दी से पूर्व के काव्य में प्रकृति को जड़ माना गया था। प्रकृति को सजीव स्वीकार करना आधुनिक काव्य की विशेषता है। अतः प्रकृति में चेतना की अनुभूति का नाम छायावाद पड़ा। इस दृष्टि से छायावाद लौकिक काव्य है। उसके विपरीत रहस्यवाद अलौकिक काव्य के अंतर्गत आता है। वह आत्मा और त्रिगुण ब्रह्म के बीच चलने वाला प्रणय-व्यापार है। छायावाद और रहस्यवाद दोनों इस युग की दो स्वतंत्र प्रवृत्तियाँ हैं। दोनों के क्षेत्र भिन्न हैं। यों एक ही कवि छायावादी भी हो सकता है और रहस्यवादी भी। व्यापक अर्थ में इस युग की प्रमुख रहस्यवादी कवि श्रीमती महादेवी वर्मा ही हैं। अन्य कवि जैसे प्रसाद, पंत, निराला आदि रहस्यवादी कम हैं, छायावादी अधिक अर्थात् उनका मन ब्रह्म में कम रमा है, प्रकृति में ज्यादा। इसी से उनके इस युग का नाम 'छायावाद-युग' पड़ा।

शचीरानी गुर्टू

अभिमत

महादेवी के काव्य में विषण्ण वातावरण की सृष्टि हुई है। उनकी अस्पष्ट आकारहीन चाहनाएँ आंतरिक विवशता का परिणाम हैं। वाह्य परिस्थितियों की अनुकूलता शक्य न होने से उनमें जो आत्म-पीड़न और अनासक्ति है, उसीने

जीवन के प्रति उनका तन्मय विश्वास खोकर उनमें खीझ, निराकार आक्रोश, पलायन-भावना और झिझक उत्पन्न कर दी है।

उत्तर

महादेवी के काव्य में परमात्मा से आत्मा के बिछुड़ जाने की कहानी है; अतः वह एक प्रकार से आध्यात्मिक विरह-काव्य है। इस काव्य में उदास वातावरण का विद्यमान रहना बहुत आवश्यक है। लेकिन यह विषण्णता जीवन के दुःख से उत्पन्न विषण्णता नहीं है।

स्थिति ऐसी है कि जन्म जन्मान्तर से आत्मा उनके विरह में भटक रही है। मिलन हो नहीं पाता, यह विवशता तो निश्चित रूप से है, लेकिन वह उस प्रकार की आतरिक विवशता नहीं है जो संसार में प्रेमी प्रेमिका के न मिलने या पति-पत्नी के संबंध-विच्छेद से उत्पन्न होती है।

भावनाएँ क्योंकि निराकार के प्रति हैं; अतः सूक्ष्म और सांकेतिक हैं। उनकी अस्पष्टता और आकारहीनता को कला की अपरिपक्वता या पराजय समझना भूल होगी और दूसरों में ऐसी भावना भरना तो कवयित्री के प्रति अन्याय करना होगा।

उनके काव्य में जो वेदना परिव्याप्त है, वह इसी आध्यात्मिक विरह के कारण है। लौकिक परिस्थितियों की प्रतिकूलता से उसका कोई संबंध नहीं है। इस वेदना को आत्म-पीड़न नहीं कहा जा सकता। आत्म-पीड़न में व्यक्ति जान-बूझकर अपनी आत्मा को पीड़ा पहुँचाता है। यदि महादेवी आत्म-पीड़न की दोषी हैं तो विरह-काल में सब युगों के सब देशों के प्रेमी भी। अनासक्ति इसलिए नहीं है कि विवशता से विमुखता उत्पन्न हुई है, वरन् इसलिए है कि आसक्ति के लिए श्रेष्ठतर आधार मिल गया है। ईश्वर की ओर बढ़ने वाला साधक संसार को पीछे छोड़कर ही बढ़ सकता है।

आपका कथन अर्द्ध-सत्य की कोटि में आता है। इसी से वह सत्य का भ्रम उत्पन्न करता है। आपकी कुछ बातें उनके काव्य पर लागू होती हैं। उदाहरण के लिए उनके काव्य का वातावरण विषण्ण है, भावनाएँ आकारहीन हैं, अभि-

व्यक्ति में झिझक है। पर जो कारण आपने दिए हैं वे ठीक नहीं हैं। कथन का दूसरा दोष यह है कि सत्य बात को आपने कुछ तोड़ा मरोड़ा है। उनके काव्य में आक्रोश और पलायन-भावना का आरोप आपने इसी से लगाया है। इन दोषों के लिए उत्तरदायी तो आपका दृष्टिकोण ही है। आपका हृदय पहले से ही पूर्वग्रहपूर्ण (Prejudiced) है। आप यह मानकर चली हैं कि महादेवी जी का सारा काव्य उनके लौकिक जीवन की विफलता से उत्पन्न है। सच बात यह है कि वह अलौकिक के प्रति प्रेम से अनुप्राणित है। उनका काव्य अभावात्मक नहीं, भावात्मक है।

प्रभाकर माचवे

अभिमत

उनमें आत्मार्पण तथा आत्म-पीड़न अत्यधिक है यानी कहीं भी उन्होंने अपने को उभार कर नहीं रखा है। और वैसे उन्होंने अपने सिवा और किसी के भावों की बात भी कहाँ की है।

उत्तर

महादेवी जी ने स्वयं कहा है: मेरे गीत मेरा आत्म-निवेदन मात्र हैं। इतना होते हुए भी प्रेम में व्यक्तित्व की रक्षा पर उन्होंने बहुत बल दिया है। उनका काव्य विषम भाव से सम भाव की ओर बढ़ा है। कहने का तात्पर्य यह कि उनके काव्य में प्रेम का प्रदर्शन जितना प्रेमिका की ओर से है उतनाा प्रणयी की ओर से नहीं। दूसरा पक्ष प्रायः उदासीन है। आध्यात्मिक काव्य में यही स्वाभाविक लगता है। आत्मार्पण क़ी स्थिति उनके काव्य में नहीं आई, लेकिन आत्म निवेदन हुआ तो आत्म-समर्पण भी होगा, यह निश्चित है। विरह जीवन में आया है तो मिलन और एकाकार का दिन भी आएगा, इसमें संदेह करने को स्थान नहीं।

इस प्रसंग में आत्म-पीड़न शब्द का प्रयोग आपत्तिजनक है। इस शब्द का प्रयोग श्रीमती शचीरानी गुर्टू ने भी किया है। पता नहीं यह शब्द आप दोनों में से किसने किससे लिया है। कुछ भी हो, पर दोनों में से तथ्य का

ग्रहण किसी ने भी नहीं किया। भला जहाँ आत्मार्पण हो, वहाँ आत्म-पीड़न कहाँ से आता है ? प्यार में आत्म समर्पण की भावना का सीधा अर्थ तो यही है कि वह अंतर की प्रेरणा और भीतर की उमंग से उमड़कर आया है।

हमें तो महादेवी जी के काव्य में उनका व्यक्तित्व बहुत मुखरित लगता है। पता नहीं यह बात आपने कैसे कही है कि उन्होंने अपने को उभार कर नहीं रखा है। यह काव्य व्यक्तिवादी है, इसमें संदेह नहीं; पर इस व्यक्तिवाद की भूमि बड़ी व्यापक है। महादेवी जी जब अपनी आत्मा की बात कहती हैं तो आपकी आत्मा की बात भी कहती हैं। भक्तों और रहस्यवादियों दोनों के काव्य में लोक-कल्याण के तत्व निहित हैं, इस बात को झुठलाया नहीं जा सकता, इस सत्य से मुख नहीं मोड़ा जा सकता।

विनयमोहन शर्मा

अभिमतः एक

छायावाद के उन्नायक कवि पंत ने 'रूपाभ' की प्रथम संख्या में अंतर्मुखी भावना का विरोध करते हुए लिखा थाः इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती, उसकी जड़ों को अपनी पोषण-सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ता है। भगवतीचरण वर्मा ने प्रगतिवाद के प्रकाश-युग में छायावाद की 'दीपशिखा' सँजोनेवाली इस कवयित्री की 'विशाल भारत' में निर्दय भर्त्सना की थी, इसके भविष्य को पलायन-प्रवृत्ति और प्रतिगामी कहा था। फिर भी महादेवी छायावाद की वकालत करती ही रहीं।

उत्तर

पंत जी ने एक प्रकार से बात ठीक ही कही थी; लेकिन यह बात उनके विरुद्ध भी पड़ती है। सिद्धांत-वाक्यों का विरोध कौन कर सकता है; पर किसी सत्य की घोषणा करना और बात है, उसका स्वयं पालन करना और बात। इधर का उनका पिछले दस वर्ष का समस्त काव्य जिस पर अरविंद-दर्शन

का प्रभाव है, आध्यात्मिक काव्य का सूक्ष्मतम निदर्शन है और जिस अंतर्मुखी भावना का उन्होंने एक दिन विरोध किया था, उसी का उच्च स्वरों में उद्घोष कर रहा है। रही श्री भगवतीचरण वर्मा की बात। तो जिस प्रकार उन्होंने उस समय छायावाद का विरोध किया, वैसे ही अब वे प्रयोगवादी कविता* का विरोध कर रहे हैं। पर उनके विरोध से न उस समय छायावादी कविता की गति रुकी और न अब प्रयोगवादी कविता की गति रुक सकती है। वे किस समय क्या कह बैठें, कुछ नहीं कहा जा सकता। उनके मत का कभी कोई गंभीर आशय नहीं होता। जानने वाले जानते हैं कि वे केवल विरोध के लिए विरोध करने के अभ्यासी हैं। प्रयोगवादी कविता के विरोध ने तो यह बात स्पष्ट कर दी है कि वे समय के साथ नहीं चल सकते। पंत जी में कम-से-कम यह बात नहीं है।

अभिमत : दो

जब महादेवी की रचना में समीक्षक रहस्यवाद पाते हैं, तब संभवतः वे उनकी रचनाओं के शाब्दिक अर्थ तक अपने को सीमित रखते हैं। महादेवी ने रहस्यवाद की साधनात्मक अनुभूति को स्पर्श किया है, यह संदिग्ध है। यह हमारा ही संदेह नहीं है, उनको रहस्यवादिनी कहने वाले आचार्य शुक्ल को भी कहना पड़ा है; वेदना को लेकर जो अनुभूतियाँ उन्होंने रखी हैं*, वे कहाँ तक वास्तविक अनुभूतियाँ हैं और कहाँ तक अनुभूतियों की रमणीय कल्पना, यह नहीं कहा जा सकता।

उत्तर

आचार्य शुक्ल ने कोई बात कही है; अतः बिना परीक्षा के वह मान्य है, यह तो कोई बात नहीं। विशेष रूप से रहस्यवाद के क्षेत्र में तो उनकी धारणाओं को संदेह की दृष्टि से ही देखना पड़ता है। भक्ति-भावना के पक्षपाती होने के कारण संस्कारों से वे रहस्यवाद के विरोधी थे जिसका सबसे बड़ा

*देखिए 'आजकल' जुलाई १६५६

प्रमाण उनका ग्रंथ 'काव्य में रहस्यवाद' है। इसी संस्कार के कारण वे कबीर के काव्य का भी ठीक से मूल्यांकन नहीं कर पाए।

रहस्यवाद दो प्रकार का होता है—साधनात्मक और भावनात्मक। हठ योग का युग अब नहीं रहा; अतः भावनात्मक रहस्यवाद ही इस युग में संभव है। काव्य के लिए भावनात्मक रहस्यवाद भी उतना ही मूल्यवान है जितना साधानात्मक रहस्यवाद। पर यदि विनयमोहन जी के कहने का तात्पर्य यह है कि महादेवी जी की रचना में शब्द ही शब्द हैं, भाव नहीं, तो शायद ही कोई सहृदय इस बात से सहमत हो। यह कहना एक बहुत बड़े झूठ का प्रचार करना होगा कि महादेवी जैसा लिखती हैं, वैसा अनुभव नहीं करतीं। हाँ, कबीर की भाँति वे योग का अभ्यास नहीं करतीं, यह तो सर्वविदित ही है; पर निर्गुण के प्रति विरह का अनुभव प्राणी की आत्मा एकदम सीधे भी तो कर सकती है। महादेवी जी के काव्य में इसी सहज भावना की मार्मिक अनुभूति के दर्शन होते हैं।

अभिमत : तीन

महादेवी के काव्य में हम परोक्ष सत्ता की अनुभूति में विश्वास करने में इसलिए झिझकते हैं कि उसमें मध्ययुगीन संतों के समान सघन एकस्वरता—सहज एकातता नहीं है। उसमें कभी अद्वैत के प्रति ललक झलकती है, कभी द्वैत के प्रति कामना उमड़ती है और कभी स्थूल के प्रति राग सहज हो उठता है।

उत्तर

यदि संतों और महादेवी के काव्य में आप यह अंतर दिखा सकते हैं, तो महादेवी के काव्य की बात तो बहुत दूर है, संतों के काव्य को भी आपने ध्यान से नही पढ़ा। रहस्यवाद भी प्रणय काव्य है; अतः उसमें दो का होना

* हिन्दी साहित्य क इतिहास में शुक्ल जी का ठीक वाक्य इस प्रकार है : इस वेदना को लेकर इन्होंने हृदय की ऐसी-ऐसी अनुभूतियाँ सामने रखी हैं जो लोकोत्तर हैं। विनयमोहन जी 'लोकोत्तर' शब्द को छिपा गए हैं।

आवश्यक है। इन्हें आप आत्मा परमात्मा कहिए, साहिब और बहुरिया कहिए या मैं और तुम। संयोग के पलों में भी बहुत दूर तक यह भेद बना रहता है। केवल मिलन के उस अंतिम पल में जब आत्मा का परमात्मा से एकाकार होता है, जब बूँद समुद्र में समाती है, केवल तभी यह भेद मिटता है। ऐसी दशा में द्वैत और अद्वैत दोनों भावनाएँ इस काव्य में विद्यमान रहती हैं। यह बात संतों, सूफ़ियों और आधुनिक रहस्यवादियों सभी के लिए समान रूप से सत्य है। संतों के काव्य से सैकड़ों ऐसे उदाहरण दिए जा सकते हैं, जहाँ द्वैत भावना स्पष्ट रूप से विद्यमान है। यह द्वैत भावना विरह के बीच में आ जाने से उत्पन्न होती है। इसके बिना प्यार चल ही नहीं सकता। कहने का तात्पर्य यह कि रहस्यवादी काव्य में यद्यपि अद्वैत भाव ही मूल रूप से रहता है; पर प्रणय की वेदना और उसके रस के लिए द्वैत भाव को स्वीकार करना पड़ता है। यही अद्वैत और रहस्य, ज्ञान और प्रेम का अंतर है।

स्थूल के प्रति राग उनके काव्य में कहीं नही पाया जाता।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु

अभिमत

उनका प्रेम-व्यापार कहीं तो बिल्कुल लौकिक-पद्धति पर चला है और कहीं लोकोत्तर। लौकिक प्रेम की तीव्रता जहाँ ज्यादा उभार मिली है, वहाँ आलंबन स्पष्ट है और विषय भी रसग्राह्य; किंतु लोकोत्तर आलंबन पाठक या श्रोता की भावभूमि से इतनी दूर पड़ जाता है कि वहाँ तक कल्पना किसी तरह कभी-कभी पहुँच भी जाती है, हृदय को पहुँचने में बड़ी कठिनता होती है।

उत्तर

महादेवी जी के काव्य से एक भी उदाहरण ऐसा नहीं दिया जा सकता जिससे पता चले कि उनका प्रेम-व्यापार लौकिक है। हाँ, प्रसाद, पंत और निराला में यह बात पायी जाती है कि कहीं तो उन्होंने अपना भाव किसी संसारी के प्रति व्यक्त किया है और कहीं उस अलक्ष्य के प्रति। इन कवियों से महादेवी की भावना का पहला अंतर यही है। इसी से ये कवि पूर्ण रहस्यवादी

के रूप में नहीं आते, महादेवी जी आती हैं। महादेवी जी की भावना केवल अलौकिक के प्रति है। इस अभिव्यक्ति में वे कहीं अधिक सफल रही हैं, कहीं कम; इसी से वे कहीं अधिक स्पष्ट हैं, कहीं कम; कहीं अभिव्यक्ति अधिक रसमयी बन पड़ी है, कहीं कम; कहीं वह हृदय को छूती है, कहीं उतना नहीं भी छूती। लेकिन प्रेम की तीव्रता उधार लेने का क्या अर्थ होता है? क्या प्रेम भी उधार मिलता है?

रहस्य-काव्य निश्चित रूप से सहज-ग्राह्य नहीं है। उसके लिए कुछ बातों की जानकारी की आवश्यकता है और उसका रस लेने के लिए एक प्रकार की मानसिक स्थिति की। वैसी दशा में यह काव्य पाठक की भाव-भूमि से उतनी दूर नहीं पड़ेगा जितना सामान्यतया बतलाया जाता है।

डा० नगेन्द्र

अभिमत : एक

'दीपशिखा' के गीतों की अनुभूति पार्थिव माने बिना काम नहीं चल सकता। इनमें स्पष्टतः काम का स्पंदन है ही।

उत्तर

पार्थिव अनुभूति के साथ अपार्थिव अनुभूति भी होती है, इसीसे काव्य को लौकिक और अलौकिक दो कोटियों में विभाजित किया जाता है। अलौकिक काव्य में भक्ति-काव्य और रहस्य-काव्य दोनों आते हैं। जहाँ प्रेम की भावना लौकिक होती है, वहाँ काम की वृत्ति भी स्पष्ट रहती है। इस दृष्टि से देव, बिहारी, और बच्चन का काव्य लौकिक है, तुलसी, कबीर, मीरा और महादेवी का अलौकिक। प्रथम कोटि के कवियों के काव्य की अनुभूति पार्थिव है, द्वितीय की अपार्थिक।

क्यों हम एक अनुभूति को पार्थिव कहते हैं, दूसरी को अपार्थिक, इसका निर्णय कई प्रकार से हो सकता है। सबसे पहले तो यह देखना चाहिए कि जीवन के प्रति कवि का दृष्टिकोण क्या है? दीपशिखा' में ही नहीं, महादेवी जी के पूरे काव्य में हम पाते हैं कि वे संसार से विरक्त हैं। पार्थिव अनुभूति

वाले व्यक्ति का दृष्टिकोण इससे भिन्न होता है। वह पार्थिव जगत को बहुत महत्त्वपूर्ण समझता है। सांसारिक सुखों के उपभोग के लिए वह बहुत लालायित रहता है। महादेवी जी के काव्य में ऐसा कहीं नहीं पाया जाता। संसार को उन्होंने बार-बार माया का देश बतलाया है। इसी से संबंधित है कवि का जीवन-दर्शन। महादेवी जी की रचनाओं से स्पष्ट है कि उनके काव्य का मूलाधार अद्वैतवाद है। उनमें यह दार्शनिक मनोवृत्ति प्रारंभ से ही पायी जाती है। उनके बहुत से गीत ऐसे हैं जिनकी व्याख्या आत्मा-परमात्मा के संबंध के आधार पर ही की जा सकती है। दृष्टिकोण और दर्शन के अतरिक्त अभिव्यक्ति का प्रकार भी ऐसा है कि उससे कहीं भी काम की गंध नहीं फूटती। उज्ज्वल प्रणय का आलोक ही सभी कहीं विकीर्ण होता दृष्टिगत होता है।

प्रत्येक प्रेम का संबंध काम का संबंध नहीं होता, यह जीवन में भी देखा जाता है और काव्य में भी। रही वासना के परिष्कार की बात। इसकी आवश्यकता वहाँ पड़ती है जहाँ इसे दबाकर इसका उन्नयन (Sublimation) करना पड़े। काम की एक सीमित परिधि है। उसके आगे वह नहीं जाता। लौकिक प्रेम के बहुत से ऐसे उदाहरण कहीं भी देखे जा सकते हैं जहाँ संबंध का आधार किसी भी रूप में काम का स्पंदन नहीं है। काम के बिना भी प्रेम संभव रहा है और रहेगा। कुछ लोगों के सम्पर्क का सुख ही इतना बड़ा सुख होता है कि वहाँ स्थूल सुख की ओर ध्यान ही नहीं जाता। प्रेम की भावना तो प्राणी के हृदय में ही निहित होती है। वह प्रेमास्पद के दर्शन या सम्पर्क से जग जाती है। उसका जगना ही मुख्य बात है। दूसरी ओर से प्रेम न मिलने पर प्रेम प्रेम ही रहता है। प्रेम का लक्ष्य सदैव स्थूल सुख की प्राप्ति नहीं रहता। यदि काम का स्पंदन ही प्रेम का प्राण है तो उसकी पूर्ति न होने पर प्रेम मर जाना चाहिए। पर हम जानते हैं कि ऐसा नहीं है।

क्यों हमें अलौकिक काव्य की अनुभूति पार्थिव सी लगती है, इसका एक कारण अभिव्यक्ति की सतही परीक्षा में मिलता है। कवि की एक बहुत बड़ी

विवशता यह है कि उसकी अनुभूति चाहे कितनी ही उज्ज्वल हो; पर वह उसे लौकिक संकेतों के माध्यम से ही व्यक्त कर सकता है। कबीर को भी इसी से विवश होकर दाम्पत्य जीवन के प्रतीक अपनाने पड़े हैं। इतना होने पर भी उनमें कोई स्थूलता का भ्रम नहीं करता। मीरा को भी यही दशा है। यदि ध्यान से देखा जाय तो महादेवी जी की अभिव्यक्ति मीरा और कबीर दोनों से अधिक सांकेतिक और सूक्ष्म है। ऐसी दशा में आपने अपने कथन से महादेवी जी और उनके काव्य के संबंध में बड़ा भ्रम फैलाने का प्रयत्न किया है।

महादेवी जी के काव्य के अध्ययन से आपके मन पर यह प्रतिक्रिया क्यों हुई, कहा नहीं जा सकता। संभवतः इसका कारण यह हो कि आप प्रत्येक कवि के काव्य को फ्रायड के सिद्धांतों की कसौटी पर आँकने का प्रयत्न करते हैं। ये सिद्धांत सभी स्थानों पर लागू नहीं होते—विशेष रूप से आध्यात्मिक काव्य के संबंध में तो इनसे बिल्कुल काम नहीं चलता।

अभिमतः दो

मैं निवेदन कर दूँ कि मुझे आधुनिक काव्य की आध्यात्मिकता में एकदम विश्वास नहीं है।

उत्तर

तब तो आपसे बात करना ही व्यर्थ है।

अवशेष

हिन्दू-समाज का सङ्गठन कुछ इस प्रकार का है कि उसमें हिन्दू स्त्री को अपने पूर्ण विकास के लिए बहुत कम अवकाश मिलता है। सुगृहिणी बनाकर हिन्दुओं ने उसे गृह-देवी की उपाधि से तो विभूषित किया; पर जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उसके मुक्त प्रवेश को रोक उसे पूर्ण मानवी बनने से वंचित रखा। राजनीति, धर्मनीति और समाजनीति में खुला भाग लेने का प्रश्न तो दूर, शिक्षा तक के क्षेत्र में उसे अनेक प्रकार की असुविधाओं की शृंखलाओं से ऐसा जकड़ दिया कि वह कठिनाई से हिल-डोल और साँस ले सके। यों दो चार नाम गिनाने का गर्व वह सदैव कर सकता है। पर इससे उसकी न्यायप्रियता नहीं सिद्ध होती, यही प्रमाणित होता है कि क्षमता के प्रदर्शन का उचित अवसर यदि नारी को दिया जाय तो क्रूरता को छोड़कर वह पुरुष से और किसी भी दिशा में किसी प्रकार कम नहीं है।

वैदिक काल के मन्त्र-दृष्टा ऋषियों में स्त्री-ऋषियों का भी नाम आता है। वेदान्त के सूक्ष्म तत्वों को समझकर उन पर तर्क करने वाली मैत्रेयी, गार्गी और आत्रेयी के नाम भी अभी हम भूले नहीं हैं। ऐसा लगता है जैसे उस धुँधले युग को आज से जोड़ने के लिए ही महादेवी का जन्म हुआ हो। जिस ज्ञान की अधिकारिणी कभी उपर्युक्त आर्याएँ अथवा श्रद्धा, घोषा और लोपामुद्रा थीं, उसी ज्ञान को सहज-भाव से स्वीकार कर महादेवी ने अपने काव्य द्वारा उसे सरसता प्रदान की है। महादेवी नहीं, वेदना मानों साकार हो गई है, ज्ञानमूर्ति मानो रसमूर्ति होकर अवतीर्ण हुई है, स्वर्ग की उज्ज्वल आत्मा मानो पृथ्वी के आँसुओं की मंदाकिनी में स्नान करने आई है।

कविता के क्षेत्र में 'नीहार', 'रश्मि' 'नीरजा', 'सांध्य-गीत' और 'दीप-शिखा' देकर, संस्मरण और रेखाचित्र के क्षेत्र में 'अतीत के चलचित्र' 'स्मृति की रेखाएँ' और 'पथ के साथी' देकर, विचार के क्षेत्र में 'शृङ्खला

की कड़ियाँ', 'विवेचनात्मक गद्य' और 'क्षणदा' देकर महादेवी जी हिन्दी-जगत के सामने कवि, कहानीकार, निबन्ध-लेखिका रेखाचित्रकार और आलोचक के रूप में आई हैं। इधर वेदों और संस्कृत-काव्य के विशिष्ट अंशों का अनुवाद उन्होंने प्रारम्भ किया है और इस प्रकार वे एक सफल अनुवादिका भी सिद्ध हुई हैं। उनका साहित्यिक व्यक्तित्व आज बहुमुखी और व्यापक हो उठा है। हिन्दी संसार को अभी वे क्या और देंगी, यह भविष्य ही ठीक से बतलावेगा, पर उनकी लेखनी से जो कुछ निकलेगा, वह हमारी भाषा और हमारे साहित्य की प्रौढ़ता और समृद्धि का परिचायक होगा।

मैंने बहुत से साहित्यिकों को बातें करते सुना हैं, पर निरन्तर खिलखिलाकर हँसते हुये इस प्रकार बोलना जिससे यदि उन मुसिकान-धुले वाक्यों को उसी प्रकार लेखनी-बद्ध कर दिया जाय तब एक शब्द तक की काट-छाँट किये बिना वे किसी भी प्रौढ़ साहित्यिक ग्रन्थ का रूप धारण कर लें, कम सुना है— नहीं सुना है।

कल्पना की उत्कृष्ट उड़ान और भावों की मर्मस्पर्शिणी अगम गहराई का पता उनके काव्याकाश में विहार करने और गीत-सिंधु में डुबकी लेने से ही हो सकता है; पर उन जैसे गम्भीर विचारक कवि भी थोड़े होते हैं यह 'दीपशिखा' की उनकी भूमिका को पढ़ने से जाना जा सकता है। मेरा विचार है कि साहित्य के शैशव से लेकर अब तक हिन्दी के सहस्रों काव्य-ग्रंथों में से एक में भी ऐसी प्रौढ़ चिन्तनधारा से संयुक्त भूमिका के दर्शन नहीं होते।

महादेवी की कविता अपार्थिव चेतना के गिरि से फूटी आध्यात्मिक वेदना की मन्दाकिनी है जो सहस्र सहस्र अलौकिक भावनाओं की लहरियों को अपनी करुणा-क्रोड़ में खिलाती हुई परम शांति के महासमुद्र की ओर अत्यन्त वेग से निरन्तर बढ़ रही है। स्मरण रखना चाहिए कि उनके गीत चलती 'ट्रेनों' घूमती 'बसों' और दौड़ते 'रिक्शाओं' में नहीं पढ़े जा सकते—नहीं समझे जा सकते। वे एकान्त में, एकाग्र मन से दो-दो चार करके पढ़ने के लिये हैं।

जितनी बार उनके रस में डूबा जाय उतने ही अधिक गहरे अर्थ से पूर्ण वे प्रतीत होते हैं, उतनी ही अधिक सात्विकता वे अन्तर में जगाते हैं, उतना ही अधिक विश्राम मन के विकल थके यात्री को देते हैं। स्थूलता, कलह और क्लेश के लोक से ऊपर उठा वे हमें एक सूक्ष्म आनन्द के पूत वातावरण में विचरण करने का अवकाश देते हैं। किसी प्रकार की नैतिक शिक्षा के प्रचार का माध्यम न होने से वे शुद्ध कलात्मक हैं। उत्कृष्ट काव्य के वे उदाहरण हैं। परम सत्य के निरूपक होने से वे 'सत्य'; आत्म-कल्याण के दूत होने से 'शिव', वासनाविहीन होने से वे 'सुन्दर' हैं। सब कुछ होते हुये वे पृथ्वी के गीत हैं, यह न भूलना चाहिये। वे अपनी साधना से स्वर्गीय होकर अमर हो गये हैं। सुनिये तो, यह कैसी गूँज उठ रही है ?

अब धरा के गान ऊने,
मचलते हैं गगन छूने,
किरण-रथ दो,
सुरभि-पथ दो,
और कह दो अमर मेरा हो चुका सन्देश।

—दीपशिखा

ऐसे विलक्षण साहित्यिक व्यक्तित्व की समता हम किससे करें ? जैसे तुलसी ने रामायण और 'प्रसाद' ने कामायनी लिख कर विश्व-कवियों में अपना स्थान बना लिया, उसी प्रकार महादेवी की गीतात्मक दिव्यानुभूति ने विश्व के महान् कवियों की पंक्ति में उन्हें बिठाया है। वैदिक-काल से लेकर आज-तक महादेवी जैसे असाधारण व्यक्तित्व की स्त्री-लेखिका ने—ऐसी अतुल मेधाविनी दार्शनिक कवयित्री ने—इस भारत भूमि में जन्म नहीं लिया, इतिहास इस बात का साक्षी है और आजतक का भारतीय वाङ्मय इस तथ्य की घोषणा शताब्दियों तक करता रहेगा।

———

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०	२	पद	पर
१२	१३	मार्क्मकादी	मार्क्सवादी
१६	२०	बहानेल	बहलाने
२०	७	अंगार	अगरु
२५	२२	प्रगतिबादियों	प्रगतिवादियों
३७	२७	भी	(इसे निकाल दीजिए)
४१	२	बदन	वदन
४७	७	अपने	आपने
७३	६	किहना	कितना
७८	२६	वहो	वही
८६	१५	हो	ही
८८	१	टप की	टपकी
१०४	१५	सामनाधिकरण्यवत्	सामानिधिकरण्यवत्
११६	१५	गनिक	जगनिक
११७	२०	अराध्य	आराध्य
१३०	२७	का	की
१३७	१	|	—
”	३	पल्लों	पलों
१५८	१	कवि	कवि को
१६०	४	आर	और
१६१	२१	|	,
१७४	१५	कोमल तम	कोमलतम
१७७	७	उच्छ्वास	उच्छ्वास
१८१	६	”	”
१८७	२३	सभ्यता	रम्यता
१६१	४	नग्न	नम्र
२०१	१४	पत	पंत
२०२	२३	जिससे	जिसमें
२०५	१	पूर्धग्रह	पूर्वग्रह
२०८	१८	उतनाा	उतना

सुमित्रानंदन पंत

श्री सुमित्रानंदन पंत आधुनिक हिन्दी काव्य के आलोक-स्तंभों और निर्माताओं में से हैं। भाव और कला दोनों के क्षेत्र में जो अभूतपूर्व क्रान्ति उन्होंने की, उससे हिन्दी साहित्य के इतिहास में उनका विशिष्ट स्थान सुरक्षित हो गया है। पिछली अर्द्ध शताब्दी में बहने वाली कोई ऐसी काव्य-धारा नहीं जिसमें उन्होंने किसी न किसी रूप में योग न दिया हो। इस प्रकार वे इस युग के प्रतिनिधि कवि हैं।

इस समीक्षा-ग्रंथ में आधुनिक हिन्दी कविता की समस्त प्रवृत्तियों और उसके प्रमुख वादों—छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, नवचेतनावाद—का विस्तृत विवेचन करते हुए पंत जी के काव्य के भाव, विचार, कल्पना और कलागत सौंदर्य पर प्रकाश डाला गया है। कवि की प्रामाणिक जीवनी भी सर्वथा नए ढंग से इस ग्रंथ में पहली बार आ रही है।

पंत जी की काव्य-प्रतिभा को समग्रता में ग्रहण और अंकित करने वाला हिन्दी में यह एकमात्र आलोचनात्मक ग्रन्थ है।

सम्मतियाँ

पंत जी पर आप का ग्रन्थ पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। ऐसे गुणी पुरुषों के विषय में कुछ न कहना वाणी को विफल बनाना-सा है। आपने उसे सफल किया है।

—मैथिलीशरण गुप्त

आपका दृष्टिकोण अत्यंत निष्पक्ष तथा संतुलित है।

—सुमित्रानंदन पंत

इस ग्रन्थ में पंत के काव्य-सत्यों का तटस्थ किन्तु मार्मिक उद्घाटन हुआ है और उनकी भावधारा के विविध अंगों और उपांगों की गंभीर और आदर्शवादी दृष्टिकोण से वैज्ञानिक समीक्षा उपस्थित की गई है। अपनी मत-प्रस्थापना में वैज्ञानिक स्पष्टता का प्रयोग किया गया है और वायवीय अतिव्याप्त साधारणीकरणों के स्थान पर सुनिश्चित शब्द-योजना द्वारा यथार्थदर्शी विश्लेषण का सहारा लिया गया है। कुल मिलाकर यह ग्रन्थ पंत-संबंधी आलोचना-साहित्य में मील का पत्थर है।

—आलोचना

पृष्ठ ४३९ मूल्य ५॥)

किताब महल इलाहाबाद

कामायनी की टीका

कामायनी आधुनिक हिन्दी-काव्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। प्राचीन-काव्य में जो स्थान तुलसी के रामचरित-मानस का है, वही स्थान इस युग के काव्य में कामायनी का।

इस महाकाव्य में गंभीर भावों, उत्कृष्ट विचारों और रम्य कल्पनाओं की अभिव्यक्ति प्रौढ़तम शैली में हुई है। यही कारण है कि सामान्य पाठक को कामायनी कुछ दुरूह-सी प्रतीत होती है। इस दुरूहता के कारण वह उसके आंतरिक सौंदर्य की पूर्ण झलक पाने से अब तक वंचित रहा है।

टीका में कथानक को समझने के लिए प्रत्येक सर्ग के प्रारंभ में उसकी कथा का सार दे दिया गया है। कामायनी की एक एक पंक्ति की सरल व्याख्या के साथ उसके आंतरिक सौंदर्य पर प्रकाश डाला गया है जिससे 'प्रसाद' की प्रतिभा का परिचय सहृदयों को पहली बार होगा।

पृष्ठ ४५५ मूल्य ५)

निराधार

कवि के जीवन से संबंधित मुक्त छंद में ६ मार्मिक कहानियों का अपूर्व संग्रह। निराधार काव्य है, संस्मरण है, कहानी है। सामान्य मनुष्यों से एक कलाकार का मिलना बिछुड़ना कितना भिन्न होता है, यह देखना हो तो विलक्षण प्रवाह से पूर्ण इस ग्रंथ की दर्द-भरी रचनाओं को पढ़ें।

सम्मतियाँ

अतुकांत छंद में अपनी स्मृतियों की कुछ सजल छायाओं को कृतिकार ने संग्रह में आकार प्रदान किया है। इन्हें कहानियाँ कहूँगी एक कवि द्वारा लिखित। लेखक की अनुभूति इनमें अत्यंत कोमल, भावना बेहद सुकुमार और इन पर उसका स्पर्श प्रौढ़ है।

—विशाल भारत

ये कहानियाँ आत्म-कथात्मक है; अतः इनमें श्री 'मानव' के व्यक्तित्व की झलक सर्वत्र मिलती है। इनके द्वारा उनकी भावुकता, स्पष्टवादिता विशुद्ध हृदयता स्पष्टतः लक्षित होती है। कहानी-कला की दृष्टि से ये कहानियाँ बड़ी सुन्दर हैं।

—साहित्य संदेश

सभी कहानियाँ वेदना की न्यूनाधिक मात्रा पाठक के मानस में छोड़ जाती हैं—सभी उसके हृदय में पैठकर उसकी संवेदना को उद्वेलित कर देती हैं, क्योंकि सभी में वियोग की कचोट का चित्रण है।

—सरस्वती

पृष्ठ १२६ मूल्य १।)

अवसाद

५१ प्रणय—गीतों का कोमल मधुर संगीत आपके प्राणों के तारों को झंकृत करने के लिए इस गीति-काव्य की वीणा में सो रहा है। एक भग्न हृदय की यह अश्रु-सिक्त गाथा न जाने कितने हृदयों के निर्दयता से चकनाचूर हुए सपनों की कहानी है।

सम्मतियाँ

इस पुस्तक में श्री मानव जी की ५१ कविताएँ संगृहीत हैं। कविताएँ भावमयी, कवित्व के गुण से पूर्ण तथा हृदय को स्पर्श करने वाली हैं।

—साहित्य संदेश

इन गीतों में कवि ने अपने जीवन की एक प्रणय-गाथा को पिरोया है। गीतों में भावों की अभिव्यक्ति और परिस्थितियों का चित्रण इतना सुन्दर हुआ है कि उनसे पाठक के मन का साधारणीकरण हो जाता है और ये गीत सभी के जीवन के गीत बन जाते हैं। —देशदूत

इन गीतों में भाव है, अनुभूतियाँ हैं, रमणीयता है और है इन्हीं के बल पर स्थित काव्यत्व। —सरस्वती

अवसाद के अधिकांश गीत हृदय को छूने वाले हैं। उनमें आँसुओं से भीगी प्रणय-वीणा को झंकृत करने की शक्ति है। —आजकल

अवसाद 'मानव' जी के प्रणय-गीतों का संग्रह है। भाषा में प्रवाह है। वह बहुत सुथरी है। भावों में कोमलता है। माधुर्य है। अक्सर गीत प्रेम की अश्रुसिक्त गाथा व्यक्त करते हैं। उनमें एक वेदना है।

—आल इंडिया रेडियो

पृष्ठ ५१ मूल्य ।।।)

किताब महल इलाहाबाद

लहर और चट्टान

एकांकियों का प्रचलन यद्यपि पिछले कुछ वर्षों से हमारे यहाँ हो गया है, फिर भी यह ऐसा नया माध्यम तो है ही जो अपने विकास की अनंत संभावनाएँ अपने में छिपाए हुए है। इस संग्रह के एकांकी इसी नवीन माध्यम को एक नए ढंग से आगे बढ़ाते हैं।

ये सभी एकांकी सामाजिक हैं और इनका केन्द्र-विंदु है नारी। इनकी कथा वस्तु नारी हृदय के उस गूढ़ प्रेम को लेकर चलती है जिसका रहस्य बहुत कम व्यक्तियों पर खुल पाता है। इनका मूल उद्देश्य आँसुओं से भीगी उन घटनाओं को आँखों के सामने लाना है जिनसे यह पता चलता है कि प्रेम का अनुभव करने पर नारी किस प्रकार व्यवहार करती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इनका सफल अभिनय अनेक बार हो चुका है।

सम्मतियाँ

समाज की प्रेम-समस्या को आधार बनाकर 'मानव' जी ने अपने ये सात सुन्दर एकांकी लिखे हैं।। इनमें इस समस्या का यथातथ्य चित्रण है। कला की दृष्टि से भी ये एकांकी प्रौढ़ कला के परिचायक हैं।

—साहित्य संदेश

इसमें नारी को केन्द्र मानकर घूमने वाली तथा प्रेम के गूढ़ रहस्य को उद्घाटित करने वाली घटनाओं का चित्रण हुआ है। एकांकियों की टेकनीक निःसंदेह विकसित और पूर्ण दिखाई पड़ती है। लड़कियों के कथोपकथन बड़े ही स्वाभाविक और जानदार हैं जो लेखक के निरीक्षण को सूचित करते हैं।

—कल्पना

लेखक के नाटकों में दुःखी नारी का चित्रण संभवतः इसलिए स्वाभाविक हुआ कि है उसने सत्य घटनाओं के आधार पर ही अपने नाटकों का निर्माण किय है।

—प्रतिभा

लेखक ने अपने नाटकों में नारी के अंतर्जगत पर से परदा उठाया है और दिखाया है कि वहाँ किस प्रकार वेदना और दुःख का सागर लहराता है। नारी के प्रति कोमल भावना और सहानुभूतिपूर्ण हृदय से प्रेरित होकर ये नाटक लिखे गए हैं। हम यह आशा कर सकते हैं कि ये नारी के प्रति समाज की न्याय-भावना को जाग्रत करने में सहायक सिद्ध होंगे।

—साप्ताहिक हिन्दुस्तान

पृष्ठ १७० मूल्य २॥)

किताब महल इलाहाबाद

लेखक की कृतियाँ

आलोचना

सुमित्रानंदन पंत	....	५॥)
महादेवी की रहस्य-साधना	....	३॥)
खड़ी बोली के गौरव-ग्रंथ	....	२॥)
साहित्य के आलोक-स्तंभ	....	१)
साहित्य और साहित्यकार	....	१॥)
हमारे कवि-भाग १	....	१)
नयी कविता	....	४)
कामायनी की टीका	....	५)

एकांकी-संग्रह

लहर और चट्टान	....	२॥)

कविता

निराधार	....	१।)
अवसाद	....	।॥)

गद्य-गीत

पतझर	....	१॥)

किताब महल इलाहाबाद